पञ्चास्तिकाय प्रवचन

पंचम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'पञ्चास्तिकाय प्रवचन पंचम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें पञ्चास्तिकाय प्रवचन कि गाथा १०५ से गाथा १५३ तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **संजयजी शाह, सीएटल, अमेरिका** के द्वारा रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Contents

प्रकाशकीय 2

आत्मकीर्तन 3

आत्म रमण 3

गाथा १०५ 6

गाथा १०६ 10

गाथा १०७ 11

गाथा १०८ 14

गाथा १०९ 17

गाथा ११० 18

गाथा १११ 22

गाथा ११२ 23

गाथा ११३ 23

गाथा ११४ 24

गाथा ११५ 26

गाथा ११६ 28

गाथा ११७ 30

गाथा ११८ 32

गाथा ११९ 34

गाथा १२० 37

गाथा १२१ 39

गाथा १२२ 41

गाथा १२३ 45

गाथा १२४ 48

गाथा १२५ 49

गाथा १२६–१२७ 50

गाथा १२८–१२९–१३० 54
गाथा १३१ 60
गाथा १३२ 64
गाथा १३३ 66
गाथा १३४ 69
गाथा १३५ 72
गाथा १३६ 75
गाथा १३७ 80
गाथा १३८ 83
गाथा १३९ 87
गाथा १४० 89
गाथा १४१ 92
गाथा १४२ 94
गाथा १४३ 96
गाथा १४४ 98
गाथा १४५ 100
गाथा १४६ 103
गाथा १४७ 106
गाथा १४८ 109
गाथा १४९ 111
गाथा १५०–१५१ 113
गाथा १५२ 115
गाथा १५३ 119

पञ्चास्तिकाय प्रवचन पंचम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

गाथा १०५

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं ।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ।।१०५।।

नव पदार्थों के वर्णन का संकल्प—अपुनर्भव के कारणभूत श्री महावीर भगवान को अभिनन्दन करके अब पूर्ववर्णित ५ अस्तिकायों के पदार्थों का भंग अर्थात् ९ पदार्थों के रूप से विस्तार और मोक्ष के मार्ग को कहूंगा । प्रथम अधिकार में षड्द्रव्य और ५ अस्तिकायों के स्वरूप का प्रतिपादन किया था और उस प्रतिपादन के माध्यम से विवेकी ज्ञानी संतपुरुषों को शुद्ध तत्त्व की बात कही थी । अब इस ही शुद्ध आत्मतत्त्व का कैसे अवतार हो, कैसे इसकी उपलब्धि हो, इसका मार्ग कहा जायगा । और वह मोक्ष का मार्ग ९ पदार्थों के विवरण के रूप से कहा जायगा । इस गाथा में आप्त भगवान श्री महावीर स्वामी का स्तवनपूर्वक इस ही बात की प्रतिज्ञा की गई है ।

अपुनर्भव के कारण श्री महावीर भगवान—भगवान महावीर स्वामी अपुनर्भव के कारणभूत हैं । अर्थात् इस समय जो यह महा धर्मतीर्थ प्रवर्तमान हो रहा है उसका मूल कर्ता भगवान महादेवाधिदेव श्री वर्द्धमान स्वामी हैं । इन प्रभु की भाव स्तुति इसमें की गई है । अपुनर्भव नाम है फिर से संसार में न आना । अ मायने नहीं, पुनर् मायने फिर से, भव मायने संसार । अब फिर से संसार में नहीं आना है ऐसी स्थिति का नाम है अपुनर्भव । ये प्रभु इस अपुनर्भव के स्वयं कारण हैं और भव्य जीवों को अपुनर्भव मिले, संसार संकटो से मुक्ति मिले, इसका भी यह निमित्त कारण हैं, क्योंकि महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि की परम्परा से और द्वादशांग की रचना होने की परम्परा में यह आज जो कुछ भी द्रव्य की चर्चा, वस्तु का स्वरूप मिल रहा है उस ही परम्परा की देन है । ऐसे अपुनर्भव के कारणभूत भगवान महावीर स्वामी को सिर से अभिवादन करते हैं ।

संकटमोचन उपाय की आवश्यकता—भैया ! सदा के लिए शंकायें दूर हो जायें, सदा के लिए संकट समाप्त हो जायें, ऐसा उपाय करना अच्छी बात है या नहीं? उत्तर तो यही सब कोई देंगे कि

यह तो बड़ी अच्छी बात है कि संसार के संकट सदा के लिए समाप्त हो जायें । पर संसार के संकट सदा को समाप्त हो जायें इसका उपाय जो सुगम और स्वाधीन है, केवल अपने ज्ञान और अपनी वृत्ति के ही अधीन है, जिस उपाय में पराधीनता रंच भी नहीं है, केवल एक आध्यात्मिक साहस की आवश्यकता है, वह उपाय इस मोही जगत में कितना कठिन लग रहा है? यह जीव केवल मानने-मानने का ही तो विकल्प कर रहा है कि और कुछ भी बाह्य पदार्थों में कर पाता है, इसकी मान्यता का निमित्त पाकर आत्मा में योग होता है और उसका निमित्त पाकर उसके अनुरूप बाह्य में भी प्रवर्तन होता है । यों बात चल उठी समस्त संसार के कार्यों की, लेकिन इस जीव ने अपना मूल में क्या किया है? केवल एक मान्यता । तो यह मानो जब बाह्य पदार्थों की अपनायत करती हुई पद्धति से मान्यता होती है तब इस जीव को क्लेश और बन्धन होता है, और जब बाह्य पदार्थों को अपनाने की पद्धति नहीं होती है, किन्तु निज को निज मानने की पद्धति बनती है तब इस जीव को ज्ञानानुभूति होती है और सदा के लिए संकट छूट जायें—इसका उपाय बनता है ।

यथार्थ विश्राम—जैसे दिनभर बहुत काम करने के बाद थकान हो जाती है और उस थकान को दूर करने के लिए रात्रि को निद्रा लेने की जरूरत होती है, विश्राम लेने की आवश्यकता होती है, उस विश्राम के बाद प्रातःकाल फिर श्रम करने की क्षमता होती है । तो थकान दूर करने के लिए जैसे यहां विश्राम की आवश्यकता होती है, ऐसे ही मन की दौड़ जो रात-दिन लगा करती है उस मन की दौड़ से जो एक अद्भुत थकान इस जीव में उत्पन्न होती है, जिस थकान के कारण यह जीव बेकार हो गया है, और बाह्य पदार्थों का ही भरोसा रखकर यह आकुलित हो रहा है, ऐसी इस मन के विकल्पों की थकान दूर करने के लिए इस शुद्ध सहज चैतन्यस्वभाव में दृष्टि करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, और यह निज अध्यात्मदृष्टि निज के ही तो अधीन है और निज में ही करना है । कोई लोग इस शरीर को जबरदस्ती पकड़ें, कैद में डाल दें अथवा अन्य उपद्रव करें, तिस पर भी यह जीव यदि अपने अमूर्त जीवास्तिकाय में जब यह सुगम शान्ति का काम करना चाहता है तो वहाँ भी यह निर्वाध रहकर शान्ति का कार्य कर सकता है, इसके लिए ज्ञान की दृढ़ता आवश्यक है ।

ज्ञान की निर्देशकता—भैया ! सारा खेल दुनिया में ज्ञान का ही तो है । कौन पुरुष किस प्रकार का ज्ञान रखता है, तब उसकी क्या चेष्टा होती है, यों ही निरखते जाइये । सारा काम, सारी व्यवस्था, सारा प्रबन्ध सब कुछ इस ज्ञान की जड़ से चला करता है तो जब हम एक जानने और मानने के सिवाय कुछ कर ही नहीं पाते हैं तो इन २४ घंटों में एक-आध मिनट हम अपने आपको सही रूप में जानने मानने का यत्न तो करें । यदि हम अपने को सही रूप में जानने की दिशा में बढ़े तो हमें यह

विदित होगा ही नहीं कि मैं अमुक नाम वाला हूं, अमुक जाति कुल का हूँ अथवा ऐसे देह का धारी हूँ, और न मैं अनेक विभागों के उपद्रव का स्वभाव वाला हूँ । मैं तो समस्त पर और परभावों से रहित केवल एक चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ, ऐसी दृष्टि बने तो यही है वह परमविश्राम, जिस विश्राम के बाद ये मन की थकानें भ्रम कष्ट सब दूर हो जाते हैं, इस ही उपाय को कर के भगवान महावीर स्वामी ने अर्त्यपद् प्राप्त किया ।

प्रभु महावीर की सर्वप्रियता—प्रभु महावीर प्रचलित रीति के अनुसार आज से ढाई हजार वर्ष करीब पहिले हो चुके हैं । वे त्रशलादेवी के कुक्षि से सिद्धार्थ राजा के गृह में उत्पन्न हुए । इनके बालपन से ही ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि के कारण शुद्ध भावना रही और ब्रह्मचारी रहे । भला जो सारे विश्व को मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाला होगा ऐसे तीर्थंकर का जब तक गृह में निवास रहता है तब तक मनुष्य लोक का, देवलोक का उनके प्रति कैसा आकर्षण रहता होगा? यहाँ कोई एक भी धनिक पुरुष या अधिकारी पुरुष या कुछ पहिले समय में जैसे जमींदार लोग हुए थे, उनकी ही ठाठ बढ़ी हुई थी, लोगों का आकर्षण रहता था । कोई ज्ञानी पुरुष हो, नेता हो उसके ही प्रति देख लो लोगों का कितना आकर्षण रहता है, पर जो तीन लोक का नेता है ऊर्ध्व, मध्य, पाताल लोक के इन्द्र जिनकी सेवा से अपना भाग्य सफल मानते थे उन तीर्थंकर प्रभु की कितनी सेवा गृहस्थावस्था में होती होगी, लोगों का कितना प्यार उनको मिलता होगा, लेकिन जिनके अंत: ज्ञानप्रकाश हो जाता है उन्हें ये बाह्य प्रलोभन, ये बाह्य समागम प्रसन्न नहीं कर पाते हैं । वे विरक्त हुए ।

प्रभु महावीरभगवान की विरागता—विरक्त होने के बाद प्रभु महावीर भगवान ने पूर्णमौन व्रत धारण किया । जो बड़े पुरुष होते हैं तीर्थंकर पुरुष वे दीक्षा लेने के बाद केवलज्ञान होने से पहिले बोला ही नहीं करते और केवलज्ञान के बाद भी वे ऐसे मुख जिह्वा वचनों से नहीं बोलते, किन्तु उनकी एक विशिष्ट दिव्यध्वनि देह से निकलती है । जब तक थोड़ा जान रहे थे, केवलज्ञान नहीं हुआ था तब तक यह भाव बना हुआ था कि इस थोड़ी सी जानकारी की स्थिति में हम लोगो से कुछ नहीं बोलना चाहते । हाँ पूर्ण आधिपत्य हो, समग्र वस्तुवों के ज्ञान पर उस समय बोला जाय तो ठीक है । वे छद्मस्थ अवस्था में बोले नहीं और जब सम्पूर्णज्ञान हो गया उन्हें तो अब बोलना ही क्या? किससे बोलें? कोई रागद्वेष तो है ही नहीं । इतना तक भी नहीं है कि ये महापुरुष, ये श्रेणिक, ये गणधर, ये चक्रवर्ती, ये लोग बड़ी भक्ति से मेरे पास आये हैं तो मैं इनको कुछ बोल दूं अथवा इन्होंने प्रश्न किया है तो मैं कुछ उत्तर दे दूँ, इतने तक विकल्प की भी जहाँ गुंजाइश नहीं रही, ऐसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान किसी से बोलते नहीं, किन्तु उनकी निरीह दिव्यध्वनि अद्भुत होती है ।

महावीर भगवान और संतों का आभार—भगवान महावीर स्वामी का आज यह शासन न होता तो हम आप इस मोक्ष के मार्ग में कैसे लगते? यह जीवन तो कभी मिट जायगा, ये समागम तो कभी बिखर जायेंगे लेकिन मोक्षमार्ग की प्रतीति बन जाय, अपने आप के सहजस्वरूप का परिचय हो जाय और यह सुहा जाय, इसकी ही रुचि जग जाय तो यह होगा महान पुरुषार्थ । जिस पुरुषार्थ के बल से हम भावी काल में भी उत्तम धर्मपद्धति के प्रसंग में रह सकेंगे । कितना उपकार है प्रभु का और कितना उपकार है इन साधुसंतों का, ऋषि जनों का जिन्होंने अपना अनुभव लेखनी बद्ध करके हम सबको ज्ञानप्रकाश किया है । इन ऋषि संतों का हम पर महान् उपकार है । धन कन कंचन साम्राज्य ये सब सुलभ हैं, मिलना हो तो मिल जाते हैं, न मिलना हे। तो नहीं मिलते हैं । सब उदयाधीन बात है और प्राय: मिलता ही रहता है । जो अनन्त आनन्द अनन्त शुक्ति का पुञ्ज है आत्मा वह कितना भी आवरण में आ जाय तो भी इसको सहूलियतें कुछ न कुछ मिलती ही रहती हैं जिससे यह सुखी रहे । चाहे कोई उन वैभवों का उपयोग कैसा ही करे । तो ये समस्त वैभव सुलभ हैं किन्तु अपने आपके स्वरूप का यथार्थज्ञान अति दुर्लभ है । जिस स्वरूप के यथार्थ ज्ञान बिना यह जीव इस संसार में भटकता रहता हैं ।

वक्तव्य के संप्रदान—जो जीव मोक्ष सुखरूपी अमृत रस के प्यासे हैं, जिनकी केवल अंदर से यही एक तीव्र इच्छा जगी है कि मुझे तो अपने आपको केवल बनाना है लेकिन व्यवस्था से भी अधिक हितकारी बात आत्महित को जिनने माना है ऐसे मोक्ष सुख सुधारस के प्यासे भव्यजीवों को ये महावीर भगवान मोक्ष के कारण हुए । अर्थात् इनके शासन का पालन करे जो कोई तो अनन्त ज्ञानादिक गुणों का फल इन भव्यों को मिलेगा । ऐसे महावीर स्वामी आज के युग में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, जो स्वयं रत्नत्रयस्वरूप हैं उनको प्रणाम करके कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह प्रतिज्ञा कर रहे हैं, संकल्प कर रहे हैं कि निश्चय मोक्षमार्ग के कारणभूत व्यवहार मोक्षमार्ग को कहूंगा ।

मोक्षमार्ग के वर्णन में नव पदार्थों के वर्णन की प्रथम आवश्यकता—व्यवहार मोक्ष मार्ग के अवयव हैं दर्शन और ज्ञान की वृत्ति, श्रद्धान और ज्ञान की वृत्ति अर्थात् रत्नत्रय, उसके विषयभूत ये ९ पदार्थ हैं जिनके परिज्ञान से व्यवहार मोक्षमार्ग में वृत्ति होती है । मैं इस व्यवहार मोक्षमार्ग को कहूंगा । यद्यपि आगे चलकर इस अधिकार के बाद चूलिका में मोक्षमार्ग का विशेष वर्णन किया जाना है तो भी ९ पदार्थों का संक्षेप में वर्णन किया जाना आवश्यक है । ९ पदार्थों का व्याख्यान यहाँ इसलिए किया जा रहा है कि मोक्षमार्ग में लगने वाले जीवों को प्रथम ही प्रथम कहां से परिचय मिलता है कि

ये अपने कल्याणमार्ग में फिर आगे बढ़ते रहते हैं, उसी प्रारम्भिक परिचय का वर्णन किया जायगा ।

गाथा १०६

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ।।१०६।।

मोक्षमार्ग का निर्देश—इस गाथा में मोक्षमार्ग की सूचना दी हे । मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि के लिए इस अधिकार में ९ पदार्थों का वर्णन किया जायगा । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से युक्त जो सम्यक्आचरण है वह मोक्ष का मार्ग है अर्थात् सप्त तत्त्वों का यथार्थज्ञान, यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ श्रद्धान के अनुरूप अपनी सिद्धि बने, इसके लिए चारित्र का धारण यह मोक्षमार्ग है । यह मोक्षमार्ग रागद्वेष रहित समतारस से परिपूर्ण है । यह मोक्षमार्ग बुद्धिमान पुरुषों के, विवेकी जनों के प्रकट होता है, जो कि भव्य हैं, मोक्षमार्ग के सन्मुख हैं ।

विधि व प्रतिषेध से विशेषणों की विशेषकता—इस गाथा में जितने शब्द दिए गए हैं वे शब्द प्रस्तावित बात का समर्थन करते हैं और उनसे विपरीत बात का खण्डन करते हैं ।जैसे यह बताया है कि सम्यक्त्व ज्ञान से सहित चारित्र मोक्ष का मार्ग है तो इसका अर्थ प्रतिषेध रूप में यों ले लीजिए कि सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित प्रवृत्ति, मोक्ष का मार्ग नहीं है । चारित्र मोक्ष का मार्ग है । तो प्रतिषेध में यहाँ लीजिए कि अचारित्र मोक्ष का मार्ग नहीं है ।इसका प्रतिषेधक अर्थ यह ले लीजिए कि रागद्वेष से सहित जो प्रवर्तन है वह मोक्ष का मार्ग नहीं है । यह मार्ग मोक्ष का बताया जा रहा है । मोक्ष का है, इसका प्रतिषेधक अर्थ यह लीजिए कि यहाँ बंध का मार्ग नहीं कहा जा रहा है । यह मार्ग है अमार्ग नहीं है । यह मार्ग भव्यजीवों को कहा जा रहा है या भव्य जीवों के हुआ करता है । इसका प्रतिषेधक अर्थ यह है कि यह मोक्षमार्ग अभव्य जीवों के नहीं होता है । यह मोक्षमार्ग लब्धबुद्धियों के होता है । जिसे भेदविज्ञान होता है उन ही जीवों के यह मोक्षमार्ग होता है, अलब्धबुद्धियों के मोक्ष का मार्ग नहीं होता है । जब कषाय नष्ट हो जय तब ही यह मोक्षमार्ग होता हैं, कषाय से मोक्षमार्ग नहीं होता है ।

प्रायोजनिक ज्ञान की विशेष अपेक्षा—कथनी तो बहुत हुई है, वर्णन का विस्तार भी गहन है, पर यह विस्तार भी जिन्हें नहीं मालूम वे भी आत्मस्वरूप की दृष्टि की सम्हाल करें ।जिन्हें यह भी नहीं

मालूम कि कर्म कैसे कटते हैं, कैसे क्लेशों का खंडन होता है, वे भी निजस्वरूप की दृष्टि से इस आत्मज्ञान के प्रताप से इन सब कार्यों को कर लेते हैं । ज्ञान कर सकते हैं और समय हो बुद्धि हो तो प्रत्येक दशा का ज्ञान करना चाहिए । नाना विषयों का ज्ञान करे, शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्यवहार शास्त्र विज्ञानवाद सबका अध्ययन करे, जिसकी दृष्टि आत्महित होती है वह प्रत्येक स्थितियों में अपने मर्म की बात निकाल लेगा । उसको वृत्ति तो आत्महित में भली प्रकार होती है लेकिन जो विविध विषयों के ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं वे भी यदि प्रयोजनभूत स्वपर भेदविज्ञान की बातों को भली प्रकार समझ लें, श्रद्धा में लायें और इस ही प्रकार का भाव करें, अपने आपकी ओर ठहरें तो वे भी कुछ समय बाद सर्व प्रकार का ज्ञान करके निर्विकल्प स्थिति में आ जाते हैं और वे रत्नत्रय की अवस्था से पार होकर कैवल्य, अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । हम आपका कर्तव्य यह है कि जो चौबीसों घंटों में दिल पीड़ित हो जाता है उसकी थकान को मेटने के लिए, उसकी पीड़ा को दूर करने के लिए निज सहज चैतन्यस्वरूप का चिंतन और ध्यान करना चाहिए । मोक्षमार्ग के लिए हम आपका यह कदम बहुत उपयोगी है ।

गाथा १०७

सममत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।

नव पदार्थ व व्यवहार रत्नत्रय—यह दूसरा अधिकार ९ पदार्थों का चल रहा है । इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन ९ पदार्थों का वर्णन चलेगा । यह वर्णन मोक्षमार्ग से सम्बंधित है । नौ पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और समतापरिणाम होना, विषयों में प्रवृत्ति न करना सो सम्यक्चारित्र हैं । ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व्यवहारदृष्टि से कहे गए हैं । इस ही व्यवहार रत्नत्रय का इसमें प्रतिपादन है । वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत जो भाव है उस भाव का श्रद्धान करने वाला जो परिणमन है उसका नाम है सम्यग्दर्शन । इससे पहिले अधिकार में जो ५ अस्तिकायों का वर्णन किया है और काल सहित ६ द्रव्यों का वर्णन हैं, उनके ही भेदरूप ये नौ पदार्थ हैं । इन नौ पदार्थों में उत्तर के ७ पदार्थ परिणमन तो जीव और पुद्गल के हैं, किन्तु उन परिणमनों में किसी न किसी प्रकार से शेष के द्रव्य निमित्तभूत हैं, अत: नौ पदार्थ सबके सब इन 6 द्रव्यों से सम्बन्ध रखते हैं ।

अश्रद्धानपरिहार व श्रद्धान—नौ पदार्थों का मिथ्यादर्शन के उदय से अश्रद्धान उत्पन्न हुआ करता था, अब उस अश्रद्धान का अभाव हो गया, अब इन्हीं का श्रद्धान अन्य अपूर्व भाव पद्धति से होने लगा । यह मिथ्यादृष्टि जीव पहिले अपने आपको शरीर निरखकर 'यह मैं हूं' ऐसी प्रतीति रखता था, अब यह सम्यग्दृष्टि जीव सर्व से न्यारे एक चैतन्य स्वभावमात्र अपने आपको परखकर अपने आप में आनन्द बढ़ा रहा है । आनन्द तो जब कभी भी मिलेगा हम आपको कोई भी चेतन हो, उन परपदार्थों के विकल्प से हटकर अपने आपके स्वरूप में हम समायेंगे तब आनन्द मिलेगा । शेष प्रक्रियाएँ तो सब मेलजोल की हैं । यह अज्ञानी उन प्रक्रियावों में अपने उपयोग का व्यर्थ का विस्तार बढ़ा बढ़ाकर हैरान हो रहा है । मैं क्या हूँ, इसका निर्णय सही जब तक नहीं हो पाता है तब तक यह जीव गरीब है ।

आनन्दधाम के परिचय में अमीरी—भैया ! जो आनन्दधाम है, जिसमें इसे आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दधाम की पकड़ न हो तो वह तो नितान्त गरीब है । ये संसारी मनुष्य जन बाहरी अचेतन पदार्थों का संचय कर के उनको निरखकर मानते हैं कि मैं बड़ा हूँ, किन्तु है वहाँ इसका कुछ? कुछ भी नहीं । जब आनन्द सुधारस इसके भर नहीं सकता तो वह अमीर कैसे? 3 लोक के जड़ पदार्थ भी समक्ष आ जायें तो भी वह गरीब है, क्यों गरीब है कि आत्मा का शुद्ध आनन्द सुधारस का पान यह नहीं कर सका है । संसार की विधि संसार की तरह है, मोक्ष की विधि मोक्ष की तरह है । यह श्रद्धान ९ पदार्थों का यथार्थ ज्ञान ही शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व के परिचय का बीजभूत है अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है । ९ पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा निज शुद्ध चैतन्यस्वभाव के यथार्थ अनुभव का कारण बन सकती है ।

मिथ्यात्व में विपरीत श्रद्धा—मिथ्यादर्शन के उदय से इसका ऐसा संस्कार बना है कि जिससे यह अपने बारे में उल्टा ही समझता है । जैसे नाव में बैठा हुआ पुरुष अपना चलना नहीं देख पाता, अन्य स्थिर जो तट के निकट पेड़ खड़े हैं उनका चलना निरखता है अथवा कभी-कभी रेलगाड़ी में बैठा हुआ मुसाफिर यों निरखता है कि ये पेड़ जल्दी-जल्दी चले जा रहे हैं । मुसाफिर अपने आपकी कुछ परिणति नहीं निरख पाता है, किन्तु बाहरी-बाहरी ही परिणमनों को सारभूत निरखता जाता है ।

अन्तस्तत्त्व में संशय विपर्यय व अनध्यवसाय—इस मिथ्यादृष्टि जीव को संशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों ज्ञानाभास बने हुए हैं । मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वों में इसे संशय है, ऐसा है या ऐसा है, ऐसा संशय बना रहता है । एक तो मिथ्यादृष्टि जीव इस तरह के होते हैं । कोई विपर्यय ज्ञानी होते हैं, हो तो कुछ और प्रकार, मानेंगे कुछ और प्रकार । जैसे जीव है तो चेतन, पर

मानेगा भौतिक । इन पृथ्वी आदिक महाभूतों से यह उत्पन्न होता है । कुछ लोग अनध्यवसाय वाले हैं, वे इस सम्बंध में कुछ जानने की उत्सुकता ही नहीं रखते हैं । यों संशय विपर्यय अनध्यवसाय से अंधेरे में पड़े हुए मिथ्यादृष्टि जीवों के जब, विवेक भाव होता है, तत्त्वज्ञान का पुरुषार्थ होता है तो ये सब कुज्ञान दूर होते हैं और स्पष्ट अपने आपका निश्चय हो जाता है ।

निजविनिश्चय की आवश्यकता—जिसे सुखी होना है उस ही का कुछ जब पता नहीं है तो सुखी होने का मार्ग कहाँ से पावेगा? सुखी होने के लिए समझ लो कि आखिर जिसे सुखी होना है वह मैं हूँ क्या? एक अपने आपके स्वरूप का विनिश्चय हुए बिना कोई सुखी नहीं हो सकता । ९ पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । इसका विस्तार से वर्णन स्वयं गाथावों में आयगा कि ९ पदार्थ क्या हैं और उनका क्या स्वरूप है? यह तो हुआ व्यवहार सम्यग्दर्शन ।

सम्यग्ज्ञान—सम्यग्ज्ञान क्या है? जैसा यह पदार्थ है उसका उसके स्वरूप से ज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है । यह सम्यग्ज्ञान ज्ञानचेतना प्रधान है अर्थात् यह ज्ञानस्वरूप के निकट है, इस कारण यह आत्मतत्त्व की उपलब्धि का बीज है । ९ पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के उपाय से यह ज्ञानी पुरुष इस निज विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि के निकट पहुंच जाता है, यही है सम्यग्ज्ञान ।

सम्यक्चारित्र—सम्यक्चारित्र—जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश बन गया तो यह जीव कुमार्ग से छूटकर अपने ही आत्मतत्त्व में विशेष रूप से लगता है । जब अपने स्व-तत्त्व में यह ठहरने लगता है, इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों में रागद्वेष पूर्वक विकार नहीं रहा करते हैं उस समय इसका निर्विकार ज्ञानरूप परिणमन होने लगता है । वही समभाव है, इसी का नाम चारित्र है । यह समभाव जिस व्यक्ति में प्रकट होता है उस समय भी यह अति रमणीक है, अपने आपको अपने आप में बड़ा आराम मिलता है । जब किसी भी अकार का विकल्प उठता रहता है तो यह आत्मा थक जाता है । अन्तर में जब किसी भी प्रकार का राग परिणाम जगता है उस थकान को मिटाने में समर्थ यह समतापरिणाम है । जिस समय में समतापरिणाम जगता है, किसी भी परवस्तु में 'यह मेरा है' इस प्रकार का विकल्प नहीं उठता, उस ही समय यह अपूर्व विश्राम को प्राप्त होता है और भावीकाल में तो यह अति उत्कृष्ट अपुनर्भव के आनन्द का कारण बनता है ।

व्यवहारसम्यक्चारित्र का प्रभाव—व्यवहारसम्यक्चारित्र की भी कितनी अपूर्व महिमा है? कोई इन्द्रिय और मन के विषय को छोड़कर परख कर सकता है। सर्व जीवों में राग और द्वेष करने की

परिणति न करके एक समतापरिणाम से विश्राम से रहकर अनुभव कर सकता है कि सम्यक्चारित्र में कितनी सामर्थ्य है । ऐसा यह त्रिलक्षण मोक्षमार्ग को आगे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों दृष्टियों से बतायेंगे । यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अथवा दर्शनज्ञान के विषयभूत जो ९ पदार्थ हैं उनकी सूचना भर दी गई है कि ९ पदार्थ ये हैं । यों ९ पदार्थों का वर्णन करने के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की बात कही गई है ।

विवेक और विवेकफल—भैया ! हम अपने आपके बारे में मोटे रूप में इतना तो समझते ही रहें कि यह देह मैं नहीं हूँ । मैं एक जाननदेखनहार चैतन्यतत्त्व हूँ । इन देहादिक अचेतन पदार्थों में जब मैं आकर्षित होता हूँ तो कर्मों का आस्रव होता है, कर्मरूप परिणमन होता है और उन कर्मवर्गणावों की कषायों के अनुसार स्थिति बँध जाती है, ये कर्म कितने वर्षों तक रहेंगे—यह स्थिति पड़ जाती है और कषायों के अनुसार फल देने की शक्ति उनमें पड़ जाती है, यों ये कर्म बँध जाते हैं और बाह्यपदार्थों में विकल्प न रक्खें, उनका आश्रय न करें तो यह उन आस्रव और बंधों से दूर हो जाता है, तब पहिले के बंधे हुए कर्म खिरने लगते हैं । इस पुरुषार्थ के प्रताप से इस जीव का निर्वाण हो जाता है । यों ९ पदार्थों को स्थूल रूप से जानने की प्रारम्भिक बात यह है । अब उन पदार्थों का नाम और स्वरूप बतला रहे हैं ।

गाथा १०८

जीवाजीवाभावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।।१०८।।

नव पदार्थों के नाम व स्वरूप—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये ९ पदार्थों के नाम हैं । इन पदार्थों में से जीव नामक पदार्थ क्या कहलाता है जिसमें चैतन्यस्वभाव का सद्भाव पाया जाय, ऐसा जीवास्तिकाय ही जीव है । कुछ लोग इस जीव को और आत्मा को जुदा-जुदा मानते हैं और उसमें आत्मा का श्रेष्ठ स्वरूप बताते हैं और जीव का विकृत स्वरूप बताते हैं । उनके सिद्धान्त में विकारी जीव ही होता है आत्मा नहीं होता है । जीव अनेक हैं आत्मा एक है, ऐसा मानने का उन्हें अवसर कैसे मिला? इस मान्यता की समस्या उनमें कैसे आयी? उसका कारण सुनिये ।

आत्मा और जीव के पार्थक्य के अध्यवसाय का कारण—आत्मा और जीव का पृथक्त्व मानने का कारण यही सम्भव हो सकता है कि एक चैतन्यपदार्थ में द्रव्यत्व और पर्याय ये दो बने हुए हैं, ये अलग नहीं हैं । ये पदार्थ जो नित्य हैं, ध्रुव हैं उनमें जो शाश्वत स्वभाव है वह तो एक मूल द्रव्य है और उसको प्रतिसमय में जो परिणमन होता है वह परिणमन पर्याय है । यों कहो शक्ति और परिणमन । यह चेतनात्मक है । जो ध्रुव शक्ति है वह और उसका जो बाहरी व्यक्त रूप है वह ये दोनों चेतन तत्त्व से जुदे नहीं हैं, किन्तु इनका लक्षण परिचय तो भिन्न-भिन्न है । जो प्रतिक्षण उत्पाद व्यय होता है वह तो पर्याय है और जो शाश्वत रहे वह चितशक्ति है । इस व्यपदेश के भेद से, लक्षण के भेद से अत्यन्त भिन्न मानकर परिणमन का नाम तो जीव रख दिया और चैतन्यशक्ति का नाम आत्मा रख दिया । आत्मा और जीव के पृथक् व्यपदेश की इस व्यवस्था के बाद तो यह भी बात फिट कर ली जायगी कि जब यह जीव अपने स्वरूप को छोड़कर आत्मा में लीन हो जाता है तब इसको मोक्ष होता है । उसका भी अर्थ यही है कि जब यह जीव अपनी पर्याय का व्यामोह त्यागकर एक चैतन्यशक्ति के उपयोग में तन्मय होकर एकत्व को प्राप्त हो जाता है, वहां शक्ति के अनुरूप ही तो व्यक्ति बनती है उसका ही तो नाम निर्वाण है ।

पदार्थस्वरूपव्यवस्था—जीव चाहे शुद्ध दशा में हो, चाहे अशुद्धदशा में हो, जिसमें चेतना पायी जाय वह जीवास्तिकाय ही जीव है । अजीव वह है जिसमें चेतना का अभाव हो । ये अजीव. ५ प्रकार के होते है-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल अस्तिकाय, आकाश अस्तिकाय और कालद्रव्य । इस प्रकार जीव और अजीव में ये ६ पदार्थ आ गए, उनमें मूल पदार्थ तो दो हैं ना—जीव और अजीव । इस मोक्षमार्ग के प्रकरण में अजीव शब्द से अर्थ ले लो कार्माणवर्गणा जाति के पुद्गल । जीव और अजीव पृथक्भूत अस्तित्व से बने हुए हैं ।सत्ता दोनों की निराली, न्यारी अपनी-अपनी है । भिन्न-भिन्न स्वभावभूत हैं । जीव और पुद्गल के संयोग परिणमन से रचे गए ७ अन्य पदार्थ हैं । वे किस प्रकार है? सो सुनिए ।

पुण्य और पाप—जीव अजीव के बाद पुण्य पाप का नाम लिया गया है । तो पुण्य पाप दो-दो प्रकार के होते हैं—एक जीवपुण्य और एक पुद्गलपुण्य अर्थात् अजीवपुण्य तथा एक जीवपाप और दूसरा अजीवपाप । इस जीव का जो शुभ परिणाम है जिसको भावपुण्य कहते हैं, प्रभुभक्ति दया दान परोपकार उदारता आदिक जो जीव के शुभ भाव हैं वे सब भाव हैं भावपुण्य और उसके निमित्त से जो पुण्यकर्म बंधन है, कर्म का परिणमन होता है वह है द्रव्य पुण्य । इसी प्रकार पाप भी दो प्रकार के हैं—एक जीवपाप और अजीवपाप । जीव का जो अशुभ परिणाम है आर्तध्यानरूप, रौद्रध्यानरूप,

रागद्वेष से विकृत मोह में मलिन जो जीव का परिणाम है वह तो है जीवपाप । भावपाप और उस अशुभ परिणाम के निमित्त से जो कर्मों का बन्धन होता है वह है द्रव्यपाप । पुद्गल का पाप, अजीवपाप । यह ९ पदार्थों का एक साधारण रूप से व्याख्यान चल रहा है ।

आस्रव और संवर—इसके बाद नाम है आस्रव । जीव का जो मोह रागद्वेष परिणाम है वह तो है जीवास्रव और उसके निमित्त से जो कर्मबन्ध होता है वह है अजीवास्रव, अर्थात् जीव में रागद्वेष मोह विकारों का आना यह तो है जीवास्रव और इन परिणामों के निमित्त से उसही काल में जो कार्माणवर्गणा कर्मरूप से बन रही हैं उनका नाम है अजीवास्रव । आस्रव तत्त्व के बाद सम्वर का नाम लिया है । ये दोनों विरोधी हैं आस्रव और सम्वर, इसलिए तत्काल प्रतिपक्ष का नाम लिया है । मोह रागद्वेष परिणामों का रुक जाना यह तो है जीव का सम्वर । जीव में रागद्वेष मोह परिणाम हटे ऐसा जो अन्तरङ्ग पुरुषार्थ भाव है वह है जीव सम्वर । और इस जीव के परमपुरुषार्थ के निमित्त से जो कार्माणवर्गणावों में अब कर्मत्व परिणमन नहीं हो पा रहा है, कर्मत्वपरिणमन रुक गया है वह है अजीव सम्वर । सीधा तात्पर्य यह हुआ कि रागद्वेष मोह को दूर करो, सो यह तो हुआ जीव सम्वर और फिर कर्म अपने आप ही न आयेंगे । कार्माणवर्गणावों में कर्मरूप परिणमन न होगा तो यह हो गया कर्मसम्वर ।

निर्जरा और बन्ध—सम्वर के बाद निर्जरा का नाम है । निर्जरा भी दो प्रकार की है-एक जीव सम्बंधी निर्जरा और एक अजीव सम्बंधी निर्जरा । कर्मशक्ति का घात करने में समर्थ और बहिरङ्ग अन्तरङ्ग तपस्यावों की विशुद्धि से बढ़ा हुआ जो जीव का शुद्धोपयोग रूप परिणमन है वह तो है भावनिर्जरा और उस भावनिर्जरा के प्रताप से पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश विनाश होना यह है कर्मनिर्जरा । निर्जरा का प्रतिपक्षी है बंध । अत: निर्जरा के बाद बंध का नाम लिया गया है । बंध भी दो प्रकार का है—एक जीवबंध और एक अजीवबंध । जो मोह राग-द्वेष की चिकनाई का परिणाम है वह तो है जीवबंध और उस चिकनाई के निमित्त से कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गल का जीव के साथ एकमेक हो जाने का नाम सम्मूर्छित बनने का नाम है बंध ।

मोक्ष—अत्यन्त उपादेय होने से अन्त में मोक्ष का नाम बताया है । लोग भी कहते हैं ना कि सब निपट जावो, फिर सारभूत बात कहूंगा । यों मोक्ष का नाम अन्त में है । इसलिए शुद्ध आत्मा की उपलब्धि हो जाना यह तो है भावमोक्ष । जीव निर्विकारस्वरूप हैं, वही का वही रह गया, यही है मोक्ष और जीव का कर्मपुद्गल का सदा के लिए वियोग हो जाना, यही है कर्ममोक्ष । इस प्रकार ९ पदार्थों

का नाम और संक्षेप में स्वरूप कहा गया है।

गाथा १०९

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ।।१०९।।

जीवप्रकार—९ पदार्थों का नाम और संक्षिप्त स्वरूप बताकर अब उनमें से जीव नामक पदार्थ के व्याख्यान का विस्तार करते हैं । उस प्रसंग में इस गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन है । जीव २ प्रकार के होते हैं—एक संसारी और दूसरे निर्वृत्त । ये दोनों ही जीव चेतनात्मक होते हैं । इनका लक्षण उपयोग है । और इनमें एक तो देह प्रवीचार है अर्थात् देह सहित है और दूसरा अदेह है । संसारी तो सदेह है और मुक्त जीव देहरहित हैं । जो संसारी जीव हैं वे अशुद्ध हैं और जो मुक्त जीव हैं वे शुद्ध हैं । चेतने का स्वभाव इन दोनों में एक समान है ।समस्त जीवपदार्थ स्वरूपदृष्टि में निर्माण में सब चैतन्यस्वरूप हैं, और वह चेतना परिणमनरूप उपयोग से परीक्षा के योग्य है । उनका लक्ष्य उस चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से ही होता है । जिसमें चैतन्यस्वभाव का सद्भाव है उसे जीव कहते हैं ।

उपाधिभेद से जीवभेदप्ररूपण—सब जीवों का सहज सत्व एक ही प्रकार का है । किन्तु उपाधि के सम्बंध से और उपाधि के वियोग से प्रथम तो ये दो भेद हुए हैं—संसारी और मुक्त । संसारी जीवों में उपाधियों की विभिन्नता के कारण नाना भेद हो जाते हैं । इससे जो संसारीजीव हैं वे देह सहित हैं, देह का उनके भोग लगा है अर्थात् वे शरीर को भोगते हैं । अपने ही शरीर को भोगते हैं, और जो मुक्त जीव हैं वे इस देह के प्रवीचार से रहित हैं अर्थात् देह का उनके सम्बंध नहीं है । इस प्रकार ये जीव दो भागों में विभक्त हैं । सिद्ध हैं मुक्त जीव और यहाँ हैं संसारी जीव । अरहंत भगवान जीवन्मुक्त कहलाते हैं । प्राणों से जीवित होने पर भी वे चार अघातिया कर्मों से मुक्त हैं अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति रूप चतुष्टय से सम्पन्न हैं वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं, मुक्त ही होने वाले हैं ।

मोक्ष में आनन्द—मोक्ष अवस्था में कैसा आनन्द होता है, कैसी निराकुलता होती है, वह अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव करने के उपाय से कुछ विदित होता है । बाहरी दृष्टि बनाकर या ऊपर से सिद्ध भगवान हैं ऐसा निरखकर भगवान के आनन्द का ज्ञान का पता नहीं पाड़ा जा सकता

। अपने आप में ही कुछ प्रयोग बनाने पर भगवान के ज्ञान और आनन्द का पता पाड़ा जा सकता है । ऐसी बात हुआ करती है । इसका कारण यह है कि जो भगवान का स्वरूप है वही अपने में स्वभाव है । अपने आपके स्वभाव का दर्शन करने से भगवान के उस व्यक्तस्वरूप के विकास का परिज्ञान होता है ।

अन्तस्तत्त्व के उपलम्भ की उत्सुकता—हम लोग यद्यपि संसारी जीव हैं पर उपादेयता के रूप से हमें अपने आप में इन सब पर्दों को फोड़कर अन्तरङ्ग में शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अनुभव करना है, ऐसी विकट स्थिति में भी जहाँ शरीर का, कर्म का बन्धन है, विभावों का मलमा ऊपर छाया है, ऐसी कठिन परिस्थिति में भी यह उपयोग इन सबको पार करके अपने अन्तः शाश्वत चैतन्यशक्ति का दर्शन कर सकता है । जैसे कि हड्डी का फोटो लेने वाला कैमरा खून, मांस-मज्जा सबको पार करके, इन्हें न ग्रहण करके केवल हड्डी का फोटो ले लेता है, ऐसे ही यह उपयोग इस शरीर को विभावों को पार करके अपने आपके अन्तरंग में विराजमान जो एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव है उस चैतन्यस्वभाव का स्पर्श कर सकता है और इस समय की अनुभूति के प्रसाद से फिर विदित होता है कि मुक्त जीवों के कितना सुख है? तब कर्तव्य यह है कि हम अपनी दृष्टि, अपना लक्ष्य, अपना यत्न आपके सहजस्वरूप पर रखने का अधिकाधिक करें ।

गाथा ११०

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया ।
देंति खलु मोहवहुलं फासं वहुगा वि ते तेसिं ।।११०।।

पञ्च स्थावरों का वर्णन—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति-काय-ये ५ काय जीव से सहित हैं । ये ५ काय स्थावरों के कहे गए हैं जिनके केवल एक ही स्पर्शनइन्द्रिय है, मात्र शरीर ही शरीर है । रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये भी प्रकट नहीं हैं । जो अंगोपांग से रहित हैं वे स्थावर जीव कहलाते हैं । ये यद्यपि अनेक आवान्तर भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं सो भी ये निश्चय से उन जीवों को मोह गर्भित परविषयक रागभाव उत्पन्न करते हैं और स्पर्शनइन्द्रिय के विषयों को देते हैं अर्थात् ये जीव भी स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा अपने स्पर्श विषय को भोगते हैं । जैसे पेड़ जड़ों के द्वारा अनेक खाद्य और पेय पदार्थों को ग्रहण करते हैं और उसे शरीररूप कर डालते हैं, ये सब

काय पुद्गल के परिणाम हैं जीव के द्वारा ग्रहण किए गए हैं ।

स्पर्शनेन्द्रियज्ञान की समानता—आवान्तर जाति भेदों से ये एकेन्द्रिय जीव यद्यपि बहुत प्रकार के हैं तो भी इन सबका काम एक ही प्रकार का है । पृथ्वी में रत्न, हीरा, सोना, चांदी, लोहा, तांबा, मुरमुर, मिट्टी कितनी ही जातियाँ हैं, वे सब जातियां भी केवल एक स्पर्शनइन्द्रिय के विषय को भोगती हैं । जो उनमें मिट्टी पानी आदि का आहार है उसका ग्रहण करते हैं और वे भी स्पर्शन इन्द्रिय का सुख भोगते रहते हैं । उन एकेन्द्रिय जीवों को कहाँ सुख है? वह सुख उनका उनके ही द्वारा गम्य है । अब क्या बतायें, लेकिन बाहर में जब कुछ यह दिखा करता हे कि यह पेड़ खूब हरा-भरा अपनी जोश जवानी पर है, बड़ा पुष्ट है तो उससे अनुमान करते हैं कि यह भी खुश है, सुखी है । कोई पेड़ सूखता नजर आये तो उससे उसको दुःखी अनुभव करते हैं ।

पृथ्वीकाय—एकेन्द्रियों के स्पर्शन इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है जिससे वे स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा मात्र वे ज्ञान कर पाते हैं । स्पर्शनइन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान ही उनके कहा है । उनके अंगोपाङ्ग नहीं हैं इस कारण किसी को ये बाधा नहीं करते । कोई आदमी वृक्ष को काटे तो वृक्ष उसे रोक नहीं सकता है । जैसे के तैसे खड़े रहते हैं । तब सोच लीजिए कितनी निम्न स्थिति है । कितनी पराधीनता है? कोई पेड़ कट रहा है तो वह पेड़ उसका प्रतिरोध नहीं करता । चाहे जो पेड़ को काटे, उखाड़ फैंके, कुछ भी करे, पर वे पेड़ मना नहीं करते । पृथ्वी है, उसे लोग खोदते हैं और पत्थरों में जिनमें जान है छेद करके सुरंग डाल देते हैं, ऐसी कठिन-कठिन बातें इस पृथ्वी पर गुजरती हैं, पर यह पृथ्वी जीव किससे क्या कहे? उसको दुःख सहना पड़ता है ।

जलकाय—जलकाय का जीव है, जल है, उसे लोग गर्म कर दें, उबाल दें, आग पर डाल दें, जैसी चाहे स्थितियां कर दे । जल बेचारा क्या करे? कभी यह जल बाढ़ के रूप में आकर गाँवों को बहा देता है तो वह जल प्रतिरोध नहीं कर रहा है । वह जान करके लोगों को नहीं बहा पा रहा है । वह तो एक निम्न गमन स्वभाव वाला है । जहाँ नीचा स्थान पाये वहाँ वह जाय, ऐसे स्वभाव वाला है यह जल । वह और कुछ नहीं कर पाता । अनेक प्रकार के क्लेश भोगता रहता है । यह एक इन्द्रिय जीव । ये ज्ञानहीन होते हैं । अन्धकार में पड़े हुए जीव सम्यग्दृष्टि हो ही नहीं सकते । मिथ्यात्व के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान भी उनके नहीं है । पूर्वजन्म में यह जीव पंचेन्द्रिय हुआ और द्वितीय गुणस्थान में उसका मरण हुआ तो थोड़े समय को पूर्वभव के लगार से द्वितीय गुणस्थान हो जाता है । यह भी किन्हीं आचार्यों ने माना है और किन्हीं ने नहीं माना है । एक दृष्टि में तो अपर्याप्त में भी

एकेन्द्रिय के द्वितीय गुणस्थान नहीं है, एक दृष्टि में द्वितीय गुणस्थान का पूर्व सम्बन्ध कारण है । कैसी निम्न स्थिति है?

अग्निकाय और वायुकाय—अग्नि को रोक दे, उस पर पानी डाल दे, खूथ दे, कितनी ही प्रकार की स्थिति बनाकर यह अग्नि ताड़ित की जाती है । हवा की बात देखो—साइकिल के पहियों में, मोटर के पहियों में भर दी जाती है । महीनों तक वह हवा उन पहियों में भरी रहती है, हजारों मील दौड़ती है, न जाने हवा पर क्या-क्या स्थितियां गुजर जाती हैं? बिजली के पंखे चला देने से न जाने कितने वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है? इतनी बात जरूर है कि गृहस्थ वहाँ निष्प्रयोजन स्थावर जीवों का घात नहीं करते, त्रस जीवों का घात नहीं करते, पर वायुकायिक जीवों की जो हिंसा होती है वह तो होती ही है । वनस्पतिकायिक जीवों की बात देखो । कितना-कितना उनको छेदा भेदा जाता । उनपर नमक डाला जाता, आग में पका लिया जाता । कितने-कितने क्लेश ये वनस्पतिकायक जीव भोगते रहते हैं?

एकेन्द्रिय के क्लेशों का स्मरण—ये सब क्लेश हम आपने भी भोगे हैं एकेन्द्रिय होकर, पर जैसे हम आपको गर्भ के दुःख की भी आज खबर नहीं है, किस तरह से माँ के पेट में रहकर दुःख सहे, इसकी भी खबर नहीं है किस तरह से उस पेट के अन्दर पड़े रहे, कैसी क्या स्थिति रही, इसकी ही खबर नहीं है तो पूर्वभव की बातों का क्या ख्याल रहे और तो जाने दो जब हम आप ६ महीना के थे तब की भी तो हम आपको कुछ खबर नहीं है । और ६ महीने की तो बात क्या, साल दो साल की उमर की भी बातें कुछ याद नहीं हैं, हमें कुछ ख्याल नहीं है । इस कारण हम जानते हैं कि आप सबको भी ख्याल न होगा । तो जब इस ही जीवन की बातों का ख्याल नहीं है तो फिर पूर्वभव की बातों का तो ख्याल ही कैसे हो सकता है । एकेन्द्रिय जीवों की पर्यायों में रहकर हम आपने कैसे-कैसे क्लेश पाये थे, इसकी कुछ आज खबर है क्या?

क्लेशोपभोग का अनुमान—हम आप सभी आगम के बल से जानते हैं और दूसरे एकेन्द्रिय जीवों की हालत को यहाँ देख रहे हैं । साथ यह भी समझ रहे हैं कि ये भी जीव हैं, हम भी जीव हैं । हम लोगों ने भी ऐसे-ऐसे शरीर पाये होंगे । ऐसा अनुमान करके हम आप सब जान जाते हैं, पर खबर कुछ नहीं है । इतने लम्बे समय की भी बात जाने दो । जब जाड़े के दिन आते हैं तो ४-५ महीना पहिले जो गर्मी से वेदना हुई थी उस वेदना की भी खबर नहीं रहती है । यह तो एक ही साल के अन्दर की बात है । और बातें तो जाने दो । जिन दिनों में खूब तेज लू चलती है, घरों में प्रवेश कर

जाती है; खूब प्रचंड गर्मी पड़ती है गर्मी सही नहीं जाती है उस गर्मी में ठंड के दुःखों की खबर नहीं रहती है, हालांकि यह एक साल के अन्दर की ही बात है, जब इसका ख्याल नहीं रहता तो भव-भवान्तरो में हमने क्या क्लेश पाये, उनका आज हम अनुमान अनुभव नहीं कर पाते हैं । लेकिन जो दूसरे जीव हैं वे सब भी मेरे ही समान तो हैं । तो जो स्थिति उनकी हो सकती है वह स्थिति क्या मेरी नहीं हो सकती है? ऐसे-ऐसे कठिन भोग एकेन्द्रिय अवस्था में रहकर जीव ने भोगे ।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय व त्रीन्द्रियों के ज्ञान—उन एकेन्द्रिय जीवों के कर्मफल चेतना प्रधान है । उनके केवल स्पर्शनइन्द्रियावरण का क्षयोपशम है जिसके कारण केवल एक बहि-रङ्ग स्पर्शनइन्द्रिय ही प्रकट होती है । कुछ वहाँ भी देखने से यों लगता है कि इन पेड़ पौधों की अपेक्षा ये जो रेंगने वाले गेडुवा हैं इनमें कुछ जान कुछ ज्ञान ज्यादा सा दिखता है ।और इन रेंगने वाले गेडुवों की अपेक्षा ठुकुर मुकुर चलने वाली इन गिजाइयों के, इन कीड़ों के कुछ और ज्यादा जान, ज्ञान दिखता है । कोई-कोई कीड़े तो बड़े ही सुन्दर रंग के होते हैं ।जैसे किसी कीड़ा को महादेव का पाट कहते हैं । रेशम की तरह लाल और कोमल और वह भी ठुकुर मुकुर चलता है तो ऐसा लगता है कि उन गेडुवों की अपेक्षा इन तीन इन्द्रिय जीवों में जान अधिक है, ज्ञान विशेष है ।

नेत्रवाले जीवों का ज्ञान—कीड़ों की अपेक्षा खूब मनमाने उड़ने वाले भंवरा ततैया इनमें कुछ और विशेष ज्ञान मालूम होता है । आखिर इनमें आँखें तो और बढ़ गईं । केवल आंखें हो जाने से बिना आंखों वाले जीवों की अपेक्षा तो एकदम अधिक अन्तर वाला बढ़ा हुआ विकास हो जाता है । अभी आप अन्दाज कर लो, आँखों में पट्टी न बाँधी जाय और वहाँ कोई प्रकार का ज्ञान करें, यहाँ यह रक्खा है, यह फलानी चीज है, यह फलां चीज खायी, यह इतर सूंघा, यों और-और प्रकार का ज्ञान करे एक तो वह स्थिति और एक आँखों को पट्टी बांध दी जाय, बिना आँखों के देखे हुए ज्ञान करे, यह स्थिति हो तो इन दोनों स्थितियों में अस्पष्टता और स्पष्टता का कितना अन्तर है? तो उन तीन इन्द्रिय जीवों की अपेक्षा इन उड़ने वाले चार-इन्द्रिय जीवों में जान विशेष मालूम होता है । फिर पंचेन्द्रिय और मन वाले इन जीवों के उत्तरोत्तर ज्ञानविशेष मालूम होता है ।

एकेन्द्रिय जीवों की परिस्थिति—तो इन एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञान तो सबसे न्यून विदित होता है । ये कर्मफलचेतना प्रधान हैं । दो इन्द्रिय के कर्मफल चेतना होने लगी । विक्रिया करते हैं, छुपते हैं, घर बना लेते हैं, आहार खोजते हैं, यहाँ न मिले तो दूसरी जगह मिले । लेकिन ये स्थावर जीव क्या करें? कैसी दयनीय स्थिति है, और कोई यह सोचे कि भाई दुःख तो हम मनुष्यों को अधिक हैं, इन्हें

क्या दुःख हैं तो ये मनुष्य भले ही ऐसी कल्पनाएँ करें, क्योंकि इन्होंने अपने सूख के लिए विषयों का विस्तार बढ़ाया है, इनके कल्पनाएँ जगती हैं इस कारण ऐसे भले ही वे अपनी कल्पना में बात लायें लेकिन दुःख तो इन एकेन्द्रिय को हम आप से भी विशेष अधिक है, ये बड़े अंधेरे में हैं । इनके भी मोह तीव्र है, पर उस मोह के प्रकट करने का साधनभूत कोई अंगोपांग नहीं हैं । वे स्पर्श विषय के उपलभ्य को उत्पन्न करते रहते हैं, स्पर्शविषयक का सुख भोगते रहते हैं । सुख क्या है, दुःख ही है, लेकिन स्पर्श विषयका वे उपभोग 'करते हैं । यों संसारी जीवों के वर्णन के प्रकरण में सर्वप्रथम ५ प्रकार के स्थावर जीवों का इसमें वर्णन किया है ।

गाथा १११

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा ।
मणपिरणामविरहिदा जीवा एंइंदिया णेया ।। १११ ।।

एकेन्द्रिय जीवों के स्थावरनामकर्म का उदय—स्थावर नामकर्म के उदय से पृथ्वी, जल, वनस्पति—ये तीन प्रकार के जीव एकेन्द्रिय जानना चाहिए, और साथ ही यह जानना चाहिए कि अग्नि और वायुकायिक जीव ये यद्यपि चलते हैं, पर स्थावर नामकर्म के उदय से ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव ही कहलाते हैं । ये मनोयोग से रहित हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु और वनस्पति—इन ५ जीवों में एकेन्द्रियपने का ही नियम है । रूढ़ि के अनुसार जो चल न सकें, वहीं के वहीं पड़ा रहें उन्हें स्थावर कहते हैं और जो चले उसे त्रस कहते हैं । तो पृथ्वी, जल और वनस्पति ये तीन तो जहाँ के तहाँ ही पड़े रहते हैं । अग्नि और वायु ये प्रकृत्या हिलते डुलते रहते हैं । लेकिन इस रूढ़ि से त्रस और स्थावर का भेद नहीं है । नहीं तो जो अत्यन्त छोटा गर्भ में बालक है वह स्थावर कहलाने लगेगा । त्रस नामकर्म के उदय से जिसको दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियपना मिला है उन्हें त्रस कहते हैं और स्थावर नामकर्म के उदय से जिनको पृथ्वी आदिक एकेन्द्रिय जाति के शरीर मिले हैं उन्हें स्थावर कहते हैं ।

काय से अन्तस्तत्त्व की विभक्तता—स्थावर नामकर्म के उदय से जो चीज इसे मिली है उससे जीव का परमार्थ स्वरूप न्यारा है । जो आज एकेन्द्रिय जीव हैं वे भी अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति आदिक गुणों से अभिन्न हैं । उनमें भी ऐसा ही परमात्मतत्त्व है, किन्तु उनके अनुभूति कहाँ? मन भी उनके नहीं है । उस अनुभूति से रहित जीव के द्वारा जो कर्म उपार्जित किए

जाते हैं वे स्थावर नामकर्म के अधीन होने से ये ५ जीव पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु और वनस्पति स्थावर कहलाते हैं ।

गाथा ११२

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ।। ११२ ।।

एकेन्द्रियों के मनपरिणाम का अभाव—ये सब जीवसमूह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये ५ प्रकार के समूह मन के परिणमन से रहित हैं और एकेन्द्रिय कहलाते है । इन सबके स्पर्शन इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है और शेष की चार इन्द्रियावरणों का उदय है और नो इन्द्रियावरण का भी उदय है । ऐसी स्थिति में यह जीव एकेन्द्रिय और असंज्ञी होता है । ऐसा किन्हीं भी जीवो के सम्बंध में समझ लो । जो आज चारइन्द्रिय जीव है उसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियावरण इन चार का तो क्षयोपशम है और श्रोत्रइन्द्रियावरण तथा नो इन्द्रियावरण का उदय है । ऐसी स्थिति में वे चार इन्द्रिय और असंज्ञी होते हैं । ये समस्त असंज्ञी जीव मन के परिणमन से रहित हैं । इन एकेन्द्रिय जीवों को निरखकर अर्थात् पृथ्वी, जल आदिक शरीरों को निरखकर लोगों के चित्त में यह आशंका रहती है कि इनमें जीव है कहाँ? पृथ्वी को देखकर कहां मालूम पड़ पाता है कि यह जीव है । तो इस एकेन्द्रिय में चेतन का परिणमन है, ऐसा सिद्ध करने के लिए दृष्टान्तपूर्वक सिद्धान्त की बात अगली गाथा में रख रहे हैं ।

गाथा ११३

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ।। ११३ ।।

क्रियाव्यापारहीनता में भी जीव के सद्भाव की संभावना का निश्चय—जैसे अंडे के अंदर पड़े हुए जीव के गर्भ में रहने वाले जीव के या किसी कारण से मूर्छा को प्राप्त हुए बेहोश हुए जीवों के बुद्धिपूर्वक व्यापार कुछ नहीं देखा जाता । अंडे में पड़ा हुआ जीव जो अभी पूर्ण कठोर अवस्था को भी नहीं प्राप्त हुआ, वह कुछ हरकत करता है क्या? गर्भ में रहने वाला जीव जो अभी एक-दो माह का है वह पेट के अन्दर कुछ हरकत करता है क्या? ऐसे ही जो मनुष्य मूर्छित हो जाते हैं, मदिरा

पीकर अति बेहोश हो जाते हैं उनके तो हाथ पैर भी नहीं डुलते हैं, उनमें बुद्धिपूर्वक कुछ भी व्यापार नहीं देखा जाता । फिर भी जिस प्रकार से लोगों के चित्त में यह बात रहती है कि इसमें जीव है, उनमें जीवपने की बात निश्चित की जाती है उसी प्रकार से यद्यपि एकेन्द्रिय के भी बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाने की समानता है उन अंडस्थ गर्भस्थ जीवों की तरह, फिर भी इनमें चैतन्य का निश्चय है ।

एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व—भैया ! पेड़ों में तो स्पष्ट समझ में आता है कि ये जीव हैं, ये फलते हैं, फूलते हैं, सूखते हैं, हरे होते हैं । इससे लोग जानते हैं कि इनमें जीव है । वृक्षों के सम्बन्ध में लोगों को संदेह नहीं है । सब लोग समझते हैं कि इनमें जीव है । कोई कहीं से पेड़ का छोटा पौधा लाये और उसे लगाये । वह पौधा सूख गया तो लोग कहते हैं कि पौधा मर गया और वह पौधा हरा भरा हो गया तो लोग कहते हैं यह पौधा हरा भरा हो गया, जी गया । उस सम्बन्ध में तो लोग निश्चय रखते हैं कि इनमें जीव है । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार के सम्बन्ध में कुछ हैरानी-सी होती है जीव के सिद्ध करने में । लेकिन सुना गया है कि पहाड़ बढ़ते हैं, ऊपर को उभड़ते हैं, जल भी वृद्धिगत होता है, अग्नि बढ़ती है और वायु तो तेज बहती ही रहती है । किसी प्रकार से देखो—इनमें जीवत्व का निश्चय हो जाता है ।

जीवभेदप्रतिपादन की आवश्यकता—एकेन्द्रिय जीव का वर्णन इस गाथा में करके अब दो इन्द्रिय जीव का वर्णन किया जायगा । यह प्रकरण व्यवहार सम्यग्दर्शन का चल रहा है ।और व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताने के लिए जीवादिक पदार्थों का वर्णन करना आवश्यक है । इन जीवादिक पदार्थों का जैसे वे हैं तैसे ही श्रद्धान करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा है । उस ही सिलसिले में यह जीव के भेद का प्रतिपादन है । जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त । संसारी जीव दो प्रकार के है—मनरहित और मनसहित । उनमें से मन-रहित जीव का वर्णन चल रहा है । ये सब एकेन्द्रिय जीव मन के परिणमन से रहित हैं ।

गाथा ११४

संवुक्कमादिवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते वेइंदिया जीवा ।।११४।।

दो इन्द्रिय जीव—शंख, सीप, क्षुद्रशंख, गेडुवा, जोंक, सुरसुरी आदि ये सब कृमियाँ दो इन्द्रिय

जीव हैं । ये रस व स्पर्श को जानते हैं । इनके स्पर्शनइन्द्रियावरण और रसनाइन्द्रियावरण का क्षयोपशम है । शेष इन्द्रियावरण का उदय है तथा नौ इन्द्रियावरण का भी उदय है,ऐसी स्थिति में ये दोइन्द्रिय जीव स्पर्श और रस के जानने वाले होते हैं, परन्तु इनके मन नहीं है । जीवों के शरीर की रचना भी कितनी विचित्र-विचित्र पायी जाती है? ये दो इन्द्रिय जीव भी कैसे विचित्र शरीर वाले हैं, जैसे कि एकेन्द्रिय जीव अनेक विचित्र शरीर वाले हैं । पीपल के पेड़ कैसे, गेहूं, चनों के पेड़ कैसे, बेल का फैलाव कैसा, नाना प्रकार की वनस्पतियां हैं और साधारण वनस्पतियां तो और भी सूक्ष्म नाना हैं । पृथ्वी भी कितने प्रकार की हैं? सोना, चाँदी, रत्न, हीरा, जवाहरात, तांबा, लोहा, पत्थर, मिट्टी इत्यादि । जैसे ये नाना प्रकार के शरीर हैं ऐसे ही दो इन्द्रिय जीवों में भी शरीरों की कैसी विचित्रतायें हैं?

विचित्र कायसंस्थान—यह विविध शरीर जीव को कैसे मिल जाता है, इसका कैसे ग्रहण होता है? इस सम्बन्ध को कोई तीसरा जोड़ता नहीं है । जीव ने जैसा परिणाम किया उन परिणामो से जैसा कर्मबन्ध हुआ उस उदय के अनुसार ये शरीर वर्गणायें इस प्रकार परिणम जाती हैं जीव का सम्बंध पाकर और यों निरख लो कि इस जीव के सम्बंध से तो जीव का आकार बनता है और जीव के सम्बंध से शरीर का आकार बनता है, जो कुछ भी आज दिख रहा है और उपयोग में आ रहा है । देखो ना, यह दृश्यमान सब एकेन्द्रिय जीवों का शरीर है । पत्थर, गाटर, कागज, कपड़ा, जो कुछ भी आपके ये बराबर उपयोग में आ रहे हैं ये सब एकेन्द्रिय के शरीर हैं । इनका यह आकार बन कैसे गया? ये पत्थर इतने लम्बे चौड़े कैसे हो गए? ये जब खान में थे तो इनमें जीव था । उस एकेन्द्रिय जीव के कारण यह पत्थर बढ़ा था । यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश आकार प्रकार प्रकृति से हो गया है ।

दोइन्द्रिय जीवों से अङ्ग उपाङ्ग का प्रारम्भ—यह जगत चराचरमय है, इस चराचर-मय जगत में जीवत्व कितना है और अचेतनत्व कितना है, पुद्गलपना कितना है? ऐसा भेद-विज्ञान इस जीव का एक परम साधन है शान्ति के मार्ग में बढ़ने का । इस गाथा में दोइन्द्रिय जीवों का वर्णन किया है । दोइन्द्रिय जीव से अंगोपाङ्ग प्रकट होने लगते हैं । कितना ऊटपटाङ्ग इनके अंगोपाङ्ग होते हैं । बतावो जो गेडुवा है वह कितना लम्बा है? कहाँ नाभि है, कहाँ इसका मुँह है, किस तरह यह चलता है, कैसा इसका ऊटपटांग शरीर है? फिर भी इसके अङ्गोपाङ्ग प्रकट होते हैं, किस ही प्रकार का हो । यहीं से अंगोपाङ्ग नामकर्म का उदय चलने लगता है ।

गाथा ११५

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा ।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।।११५।।

तीन इन्द्रिय जीव—इस गाथा में तीनइन्द्रिय जीवों का प्रकार बताया गया है । ये जीव स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियजन्य ज्ञान के आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम से व्यक्त होते हैं । इनमें चक्षुरिन्द्रियावरण और श्रोत्रइन्द्रियावरण का उदय है और नौ इन्द्रियावरण का भी उदय है । ऐसी स्थिति में इस जीव के बाह्य में तीन इन्द्रियां प्रकट हुई हैं—स्पर्शन, रसना और घ्राण । इन इन्द्रियों के निमित्त से ये जीव स्पर्श, रस और गंध के जानने वाले होते हैं इनके आँखें नहीं हैं और मन भी नहीं है, ये सब असंज्ञी जीव हैं ।

शक्ति का तिरोभाव व आंशिक आविर्भाव—यद्यपि शुद्धनय से देखा जाय तो इन दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय आदिक कीड़ा मकोड़ा जैसे स्वरूप से यह आत्मतत्त्व पृथक् है । केवलज्ञान, केवलदर्शन से यह अभिन्न है, अपनी ज्ञानशक्तिमय है, लेकिन ऐसे शुद्धज्ञानस्वरूप की भावना जब नहीं रहती तो ऐसे-ऐसे नाना शरीर मिलते हैं । इन जीवों में मन नहीं है । सो ये जीव भावना कर ही नहीं सकते । हाँ मन से कुछ भावना चल सकती है, सो इनके भावना का साधनभूत मन भी नहीं है । तो जब भावना न बन सकी तौ आत्मतत्त्व की भावना से जो सहज आनन्द प्रकट होता है उससे ये बिल्कुल शून्य हैं । हां वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से कुछ इसमें ऐसी व्यक्ति हुई है कि ये दो इन्द्रियों से अथवा तीन इन्द्रियों से कुछ सुख ले सकते हैं । ऐसे हो परिणामों में रहता हुआ यह जीव तिर्यंचगति को भोगता है और अपनी जाति के अनुकूल विषयों में उन्मत्त रहा करता है ।

तीनइन्द्रिय जीव की परिस्थिति—तीनइन्द्रिय जीवों के कुछ नाम ये हैं, जैसे—जुवा, खटमल, चींटी, बिच्छू गिजाइयां, सुरसुरी और भी जो कीड़े फिरते हैं, जिनके ४ पैर से अधिक पैर रहते हैं और चलते हैं, उड़ नहीं सकते, ऐसे जीव ये तीनइन्द्रिय हैं । ये सब जीव स्पर्श, रस, गंध आदिक को जानते हैं । मोही जीवों के विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मतत्त्व की सुध नहीं रही और इसी कारण आत्मीय आनन्द का परिचय नहीं रहा, वे अपने आनन्द सुधा से च्युत हो गए और वे इस ही इन्द्रिय के स्वाद में मूर्छित हो गये, ऐसे जीवों के द्वारा जो-जो इन्द्रियजाति नामकर्म बंधा है उस कर्म के उदय के अधीन होकर यह जीव तीनइन्द्रिय बनता है । इनके वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है । कुछ शक्ति तो

प्रकट है और स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसनाइन्द्रियावरण, घ्राणइन्द्रियावरण का भी क्षयोपशम है, किन्तु श्रोत्रइन्द्रियावरण और चक्षुइन्द्रियावरण का उदय है जिससे आंखों का निशान तक भी प्रकट नहीं हुआ है । ये जीव मनरहित हैं ।

इन्द्रियों का क्रमिक अभ्युदय—कोई मनुष्य जन्म से ही अंधा पैदा हो और ऐसा ही अंधा हो कि जिसकी आँखों के गोलक ही न प्रकट हुए हों,, जैसे गोल और सफेद आँख के गोलक हैं वे गायब हों, ऐसा भी मनुष्य पैदा हो तो भी उसके चक्षुइन्द्रियावरण का क्षयोपशम है, वह न देख पा रहा, न देख, पायगा चाहे अपने उस जीवन में लेकिन चक्षुरिन्द्रियावरण का क्षयोपशम अवश्य है । ऐसा नहीं हो सकता कि चक्षुरिन्द्रियावरण का क्षयोपशम न हो और श्रोत्रइन्द्रियावरण का क्षयोपशम हो जाय ।

इन्द्रियों के आविर्भाव क्रम का अनतिक्रम—ये पाँचों इन्द्रियाँ क्रम से व्यक्त हैं अर्थात जो तीनइन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन ही इन्द्रियां होंगी । क्रम से अतिक्रम न होगा कि किसी के ऐसी तीन इन्द्रियाँ बन जायें कि स्पर्शन, रसना और चक्षु इस तरह के अतिक्रम से इन्द्रियाँ नहीं होंगी । इस प्रसंग में एक बात का और अनुमान कर लो । जिस जीव की जो अन्तिम इन्द्रिय होती है वह अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा प्राय: अधिक प्रबल होती है । जैसे दोइन्द्रिय जीवों के मुख हो गया है तो अब उनको मिट्टी वगैरह खाने का निरन्तर काम पड़ रहा है । चींटी के घ्राणइन्द्रिय प्रकट हो गयी तो उसके नाक का गंध का ऐसा तीव्र विषय है कि आप मिठाई किसी जगह रखे हों वहाँ चलकर वे चींटियां पहुंच जाती हैं । इसी प्रकार मनुष्य की अन्तिम इन्द्रिय है मन । यद्यपि मन अनिन्द्रिय है तो भी यह छठी चीज मिली तो है । यह मन अंतःकरण है, अन्दर की इन्द्रिय है । तो हम आप लोगों के मन का कितना तीव्र विषय है? पल भर में कितनी घटनाएं मन में ग्रहण कर लेते हैं और प्राय: करके यह मनुष्य अथवा जो भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव हैं उनके अधिकतर मन का ही सुख और दुःख रहता है । यह कभी इन्द्रियजन्य सुख को भोगे तो भी उसके साथ मन का विशेष हाथ है । ओर इस मन के सहयोग से सुख दुःख का अनुभव अधिक कर डालते हैं ।

उपद्रवी मन—भैया ! बहुत उपद्रवी कोई अपने आप में पड़ा हुआ है तो यह मन है । कैसा कठिन मन है कि यह पकड़ में नहीं आता, बंधन में नहीं आता, दिखाया नहीं जा सकता, किसी दूसरे के कैद भी नहीं कराया जा सकता । ऐसा यह अनियत फुर्तीला मन इस मनुष्य को परेशान किए हुए है । परमार्थदृष्टि से निरखी तो इस जीव का स्वरूप तो केवल अमूर्त एक चैतन्य स्वभावमात्र है लेकिन जब इस स्वरूप को अपने उपयोग में ग्रहण नहीं किया गया तो इसके अनन्त भय उत्पन्न हो गया ।

जीव का तो निर्भय स्वरूप है इस भव की मृत्यु भी आये तो भी जीव का कुछ बिगाड़ नहीं है, पर कोई जीव के इस परमार्थ स्वरूप पर दृष्टि दे उसके ही तो समझ में यह बात आयगी ।

अज्ञान से मायाजाल का विस्तार—अहो निज परमार्थ स्वभाव पर दृष्टि न होने से बाह्यपदार्थों में इस जीव ने अपनायत की है और जिसे यह अपना-अपना मान लेगा उस चीज के वियोग में, विनाश में इसे नियम से अत्यन्त कठिन क्लेश होगा । तो क्लेश से जिसे बचना है उसका उपाय तो सीधा-सा है कि किसी परपदार्थ को अपना न माने, किन्तु यह बात जब कठिन हो रही है तब बड़ी-बड़ी समस्यायें सामने रक्खी हैं, पर को निज मानने की कल्पनाएँ न जगे तो जगत में एक भी समस्या नहीं है । ये समस्याएँ, विपदाएँ, चिन्ताएँ, ये सब मोहजाल पर ही आधारित हैं।

शान्ति के अर्थ अपना कर्तव्य—शान्ति के लिए अपना कर्तव्य यह हे कि अपने आपको सबसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभव में लीजिए । परिस्थितिवश बाह्य कर्तव्य भी करने पड़ रहे हैं, पर वे कर्तव्य ढाल की तरह समझो । जैसे ढाल शत्रु के आक्रमण का निरोधक है ऐसे ही हम आपकी जो बाह्य परिस्थिति बनती है इस स्थिति में अनेक संकटों से बचने के लिए ये सब ढाल हैं । प्रज्ञारूपी शस्त्र से हम इन विभाव बैरियों का, विध्वंस करें और अपने आपके आनन्दधाम सहज चैतन्यस्वभाव के रूप में अनुभव किया करें । काम करने को यही है । लेकिन इस कार्य के लिए प्रगति हमारी तभी सम्भव है जब हम वस्तुवों के स्वरूप को यथार्थ समझ लेंगे । जब चित्त में समा जाय कि प्रत्येक पदार्थ अपने हो अपने स्वरूप में तन्मय है । एक पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, यह बात चित्त में जम जायतो ज्ञानप्रकाश और परम सहजआनन्द इस जीव के प्रकट हो सकता है । हमने जैनशासन पाया है तो इससे सम्यक् श्रद्धान का लाभ उठा सकें, इसमें ही अपनी भलाई है ।

गाथा ११६

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया ।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति ।।११६।।

चतुरिन्द्रिय जीव—संसारी जीवों के भेद विस्तार में चक्षुरिन्द्रिय जीवों के प्रकार को सूचना इस गाथा में दी गई है । जिन जीवों के स्पर्शनइन्द्रियावरण, रसनाइन्द्रियावरण, घ्राणइन्द्रियावरण और

चक्षुरिन्द्रियावरण इनका क्षयोपशम है और श्रोत्रइन्द्रियावरण का उदय है तथा नौ इन्द्रियावरण का भी उदय है ऐसी स्थिति में यह जीव चक्षुरिन्द्रिय जाति में उत्पन्न होता है । ये जीव स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के जाननहार हुआ करते हैं, मन से रहित भी होते हैं । ये जीव भी बहिरात्मा हैं । ये चार प्रकार के इन्द्रियों के विषयसुख में आसक्त रहते हैं । इनके निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञान की भावना ही नहीं बनती । तब इस ज्ञानभावना से उत्पन्न होनेवाले समतारूपी आनन्द सुधा रस से ये विमुख रहा करते हैं । ऐसे जीवों के द्वारा जो उपार्जित चक्षुरिन्द्रिय जाति नामक कर्म था, उसके उदय के आसीन ये चक्षुरिन्द्रिय जीव हुए हैं । इनके वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है ।

संसारी जीवों में वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम की साधारणता—संसार के प्रत्येक जीव में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम पाया जाता है अर्थात् चाहे वे निगोद भी क्यों न हों, कुछ न कुछ शक्ति वहाँ अवश्य प्रकट रहती है । वीर्यान्तराय कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा की शक्ति का आचरण करे, उसमें विघ्न डाले । जैसे कोई भी संसारी जीव ज्ञान से शून्य नहीं है, क्षुद्र से भी क्षुद्र संसारी जीव हो, सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक भी हो उसके भी उसके योग्य मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम पाया जाता है । क्षयोपशम का अर्थ है जहाँ सर्वघाती का उदयाभावी क्षय हो और उपशम हो तथा देशघाती का उदय भी साथ हो, ऐसी स्थिति में ज्ञान कम रहता है, पर रहता है जरूर । ऐसे ही समग्र जीवों के संसारियों के वीर्यान्तराय का क्षयोपशम पाया जाता है । वीर्यान्तराय का क्षय १२वे गुणस्थान में होता है । वहाँ तक क्षयोपशम ही है। इन चक्षुरिन्द्रिय जीवों के वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है और चार इन्द्रियावरणों का भी क्षयोपशम है। तब चार इन्द्रियावरण व्यक्त हो गयी और श्रोत्रइन्द्रियावरण का उदय होने से मन भी नहीं मिला। ऐसे ये जीव चतुरिन्द्रिय जाति के होते हैं।

संसरणसृष्टि का हेतु और उसकी प्रतिक्रिया—इन संसारी जीवों के भेदों को सुनकर चित्त में यह निर्णय बनाये रहना चाहिए कि एक निज सहजस्वरूप के परिचय के बिना और यह आत्मा स्वयं आनन्दमय है, ऐसी अनुभूति के बिना यह जीव ऐसी-ऐसी योनियों में भटक रहा है। आज हम आपको जितना समागम मिला है यह समागम सदा साथ तो देगा नहीं, पर इन समागमों में आसक्त होकर हम जो एक मोह मिथ्यात्व पाप बढ़ाते हैं, इस पाप के फल का भोगना भावीकाल में बनेगा। हम इतने सावधान रहें। इतने स्पष्ट रहें कि अंतरंग में जैसा सहज स्वरूप है तैसी ही दृष्टि के यत्न में रहे। यथार्थता तो यह है, ऐसे स्वरूप की सावधानी हम आपको मोक्ष के मार्ग में ले जायगी।

गाथा ११७

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा।।११७।।

पञ्चेन्द्रिय जीव—अब पञ्चेन्द्रिय के प्रकार की सूचना इस गाथा में दी जा रही है। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च जो कि कोई जलचर हैं, कोई थलचर हैं, और कोई नभचर हैं, ये सब पञ्चेन्द्रिय जीव हैं। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और शब्द के जाननहार हैं। इन सब जीवों में पञ्चेन्द्रियावरण का क्षयोपशम होता है। इनमें से जिनके नो इन्द्रियावरण का उदय है वे तो असंज्ञी पंचेन्द्रिय हैं। मानसिक ज्ञान का उनके विकास नहीं होता है। वे केवल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को ही जानते हैं, पर जिनके नो इन्द्रियावरण का भी क्षयोपशम होता है वे जीव संज्ञी हैं। इन समस्त पञ्चेन्द्रिय में से देव, मनुष्य और नारकी जीव ये तो नियम से मनसहित ही होते हैं। तिर्यंचों में दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय पाये जाते हैं। कोई पंचेन्द्रिय सैनी और कोई असैनी, उनमें भी प्राय: सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं, असैनी पंचेन्द्रिय अत्यन्त कम हैं।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियों के भेद—पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के ये तीन भेद किए गए हैं—जलचर, थलचर और नभचर। ये तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के हैं अर्थात् जो जीव पंचेन्द्रिय हैं और तिर्यंच हैं उनके ये प्रकार हैं। जैसे इनका अर्थ है ना—जो जल में चले सो जलचर, जो थल में चले सो थलचर और जो आकार में चले सो नभचर। इन शब्दों
की व्याख्या मात्र ही सुनकर जो इन भेदों का स्वरूप समझते हैं उनसे पूछा जाय कि बतावो मक्खी कौन चर है? तो अक्सर ऐसा उत्तर देने लगते हैं कि नभचर होगी, क्योंकि वह तो आकाश में उड़ती है, लेकिन मक्खी कोई चर नहीं है, क्योंकि तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के किए गए हैं। मक्खी उड़ती है, तिर्यंच भी है, पर पंचेन्द्रिय नहीं है। और पूछा जाय कि बतावो मनुष्य कौनसा चर है? तो लोग अक्सर उत्तर देते है थलचर है, जमीन पर मनुष्य चलते हैं। ठीक है, जमीन पर चलते हैं, किन्तु मनुष्य को यहाँ थलचर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के कहे गए हैं। मनुष्य भले ही थल पर चलता है, पञ्चेन्द्रिय भी है, किन्तु तिर्यंच नहीं है। इन तीन के प्रति पूछा जय तो जो पञ्चेन्द्रिय हों और तिर्यंच हों उनमें छांटना चाहिए कि ये जलचर हैं या नभचर हैं?

इन्द्रियविषयव्यामोह का फल—संसार के ये जीव इन्द्रिय सुखों में आसक्त होकर बहिर्मुख हो जाते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप में न ठहरकर बाहरी पदार्थों की ओर अभिमुख होते हैं ।यह एक उनका

मोह का ही कार्य है । यह इन्द्रियसुख वास्तविक आनन्द से अत्यन्त विपरीत है । वास्तविक आनन्द यह है जहाँ झूठे आनन्द का अंश भी न हो । इस इन्द्रिय में तो झूठा ही झूठा सुख भरा पड़ा है । ऐसे झूठे सुख को भोगने में मौज तो माना जाता है, पर शान्ति नहीं कही जा सकती । वास्तविक आनन्द तो दोषरहित शुद्ध प्रतिभासस्वरूप ज्ञानस्वभाव के ध्यान से ही उत्पन्न होता है । ऐसे आनन्द से विपरीत इन्द्रियसुख में आसक्त होकर व किसी अंश में अमूर्च्छित रहकर इस जीव ने जो पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म का बंध किया था उसके उदय को पाकर आज उनकी यह स्थिति है कि वे पंचेन्द्रिय हुए हैं और कोई-कोई तो नौ इन्द्रियावरण के उदय से असैनी हुए हैं, किन्हीं के नो इन्द्रियावरण का क्षयोपशम मिला तो वें संज्ञी हुए ।

मन का कार्य—मन का काम है कि मन वाले जीव शिक्षा उपदेश ग्रहण करने की योग्यता पायें । वे शिक्षा और उपदेश ग्रहण कर सकते हैं, विवेक पा सकते हैं । असंज्ञी जीवों में विवेक शक्ति नहीं होती है । जहाँ पंचेन्द्रिय के भेद किए जायें वहाँ संज्ञी और असंज्ञी हैं । जहाँ संसारी जीवों के भेद किए जाये वहाँ एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ग्रहण करके यह खोज लेना है कि एकेन्द्रिय से लेकर चारइन्द्रिय जीव तक तो शुद्ध असंज्ञी होते हैं । शुद्ध का अर्थ है केवल, उनमें और न पाया जायगा, वे सिर्फ असंज्ञी-असंज्ञी ही होंगे । पंचेन्द्रियों में कोई जीव संज्ञी होते हैं और कोई-कोई जीव असंज्ञी होते हैं ।

संज्ञाओं का असर—कुछ ऐसी आशंका की जा सकती है कि ये चींटियां अपना घर भी बनाती हैं, जमीन में से एक-एक कण चोंच में लाकर ठीक ऐसी, जगह पटकती हैं कि जिससे उनका बिल न ढके, और सही क्रम से डालती हैं । कही बहुत ऊपर खाने की चीज मिठाई वगैरा रखी हो तो वहाँ पहुंच जाती हैं । इन बातों को देखकर तो यह समझना चाहिए कि उनके भी मन है, विकल्प है तब इन्हें असंज्ञी क्यों कहा? समाधान उसका यह है कि प्रत्येक जीव में आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—इन संसारी जीवों में दशम गुणस्थान तक सबमें जितना, सम्भव है लगी हुई हैं, वे इस ही जाति स्वभाव के हैं, उनकी गंध विषय में प्रगति है । इससे उनके आहारसंज्ञा आदिक की चतुराई अधिक है, .और वे आहारसंज्ञा, भय-संज्ञा आदि इनसे प्रेरित होकर इतना काम कर डालते हैं । मन की सम्भावना उन जीवों में करनी चाहिये जिन जीवों में यह भी सम्भव हो सके कि वे कभी तत्त्व की बात, ज्ञान की बात, विवेक की बात भी ग्रहण कर सकें । मन से कदाचित् आहार आदिक संज्ञावों को भी करें तो वहाँ मन की बात मानी जा सकती है । जहाँ शिक्षा, उपदेश, ग्रहण, विवेक ये कभी सम्भव ही नहीं हैं उन चेतनों में जो आहार वगैरह की इतनी प्रवृत्ति देखी जाय वह सब इन

संज्ञावों के माहात्म्य से होती रहती है ।

उत्कृष्ट मन—मन तो परमात्मा आदि तत्वों को भी जानने में समर्थ है । जो परमात्मत्व तीन काल, तीन. लोक के समस्त पदार्थों के जानने में समर्थ है ऐसे विशुद्ध तत्त्व को भी जानने की शक्ति मन में है । उत्कृष्ट मन की बात तो यों समझ लीजिए कि मन तो यद्यपि परोक्ष है; पर परोक्षरूप से होकर भी परोक्ष परिच्छेदन कर के भी एक सामान्यतया समग्र की दृष्टि से यह परोक्षज्ञान विषय में केवलीप्रभु के समान है । वह कैसे? इसे यहाँ देखिये—जिसको समस्त द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान है और उनके मन के अनुसार सब परोक्षरूप से, सामान्यरूप से सब जान लिया गया जो कि केवलज्ञान जानता है । केवलज्ञान ने जान लिया कि आकाश अनन्त है तो इस मन ने भी जान लिया कि आकाश अनन्त है जाना अस्पष्ट, परोक्ष और स्थूलरूप से । केवलज्ञान ने स्पष्ट जाना और विशेष याने सूक्ष्मरूप से भी जाना, आत्मीय शक्ति से भी जाना, उसकी पद्धति और है, मन की पद्धति और है, केवलज्ञान की प्रत्यक्ष पद्धति है और मन की परोक्ष पद्धति है । यह मन चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीव के कभी भी सम्भव नहीं है । इस प्रकार पंचेन्द्रिय के प्रकार बताते हुए यह भेद कर दिया गया है कि देव, नारकी और मनुष्य ये तो नियम से संज्ञी ही होते हैं । तिर्यंचों में पंचेन्द्रिय में दो प्रकार सम्भव हैं, चतुरिन्द्रिय तक असंज्ञी ही हैं ।

गाथा ११८

देवा चउण्णिकाया मणुया आ कम्मभोगभूमीया ।
तिरिया बहुप्पपारा णेरइया पुढविभेयगहा ।।११८।।

चातुर्गतिक जीवों का संक्षिप्त उपसंहार—अब पूर्व में कहे गये संसारी जीवो के प्रकार का इसमें कुछ चूलिकात्मक वर्णन है । देव चार निकाय वाले होते हैं । इनके देवगति नामकर्म का उदय है और देव आयुकर्म का उदय है इसके वश से ये देव हुए हैं । देवगति नामकर्म का कार्य तो यह है कि देवगति नामकर्म के उदय से उस देव भव वाले जीव के देवगति के योग्य ही भाव और परिणतियां बनती हैं और देव आयुकर्म के उदय का कार्य यह है कि देवायु के उदय से यह जीव देव शरीर में रुका रहता । सो देवगति और देव आयु के उदय से उत्पन्न हुए वे सब देव चार प्रकार के निकाय वाले हैं । कोई भवनवासी हैं, कोई व्यन्तर हैं, कोई ज्योतिषी हैं और कोई वैमानिक हैं।

प्रथम पृथ्वी के भाग—जिस जमीन पर हम आप चलते हें यह पृथ्वी बहुत मोटी है और इस पृथ्वी

के तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग । ये यहाँ से एक हजार योजन नीचे से हैं । यह ऊपरी भाग वह खण्ड न समझना । इसके नीचे तीन खण्डों को समझो । यह प्रथम खण्ड का ही ऊपरी भाग है, इनका नाम कितना अच्छा दिया गया है । कोई मनुष्य जैसे कुवां खोदता है तो सबसे पहिले खर अर्थात् सूखी मिट्टी निकलती है, और गहराई पर जाने पर फिर पंक सा निकलने लगता है फिर और गहराई पर जाने पर पानी निकलता है । तो यद्यपि ऐसी बात उन भागों में नहीं है, लेकिन यहाँ कुछ खोदने पर जैसे तीन प्रकार को विशेषता मिलती है उसके अनुसार रूढ़ि से ये नाम रक्खे गए हैं, पहिला है खरभाग, दूसरा है पंकभाग और नीचे का हिस्सा है अब्बहुल भाग ।

देवों का निवास स्थान—ये भवनवासी और व्यन्तर खरभाग और पंकभाग में रहते हैं । पंकभाग में तो असुर जाति के देव और राक्षस नाम के देव रहते हैं और शेष भवनवासी और व्यन्तर खरभाग में रहते हैं । इनमें ऊँचे मणिखचित सुन्दर भवन हैं और विशेष-विशेष भवनों के निकट चैत्यालय हैं, अकृत्रिम सब रचना है, व्यन्तरों में तो कुछ व्यन्तर तो इस मध्यलोक की कई पुरानी जगहों में रहते हैं । कहीं द्वीप आदिक में निचले स्थानपर रहते हैं, आकाश में भी अधर जहाँ चाहे रहते हैं, और कोई पुरानी जगह खंडहर विशाल पेड़ इत्यादि पर जैसी उनकी रुचि होती है उस रुचि के अनुसार इन जगहों में भी रहते हैं । ज्योतिषी देव सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे इन विमानों में रहने वाले हैं, वैमानिक देव स्वर्गों में और स्वर्गों से ऊपर सर्वारिसिद्धि पर्यन्त इन सबमें वैमानिक देव रहते हैं, ये सब संज्ञी जीव होते हैं ।

देव देह—देवों के शरीर में अतिशय होता है । खून, पीप, हाड़, मांस, मज्जा इत्यादि अपवित्र चीजें उनके नहीं हैं । वैक्रियक जाति की वर्गणायें उनके शरीर में हैं, वे शरीर के अनेक बना, लें, छोटा, बड़ा, लघु, वजनदार सब प्रकार का बना ले, ऐसी विविध ऋद्धियों के वे स्वामी हैं । उनको कई पखवारे बाद तो श्वांस लेने का कष्ट करना पड़ता है और कई हजार वर्षों में उनके भूख लगती है । सो गले में से अमृत झड़ जाता है, शान्ति हो जाती है कितना महान उनको सुख है, सुविधा है? हम आप लोग ऐसा सोच सकते हैं कि वे तो यदि खूब प्रभुभक्ति करें और आत्मध्यान करें, आत्मा की उत्कृष्ट साधना करें तो उनको तो सारा ही मौका है लेकिन वे इस सुख में रहकर ऐसे छोटे मन वाले हो जाते हैं कि उनके आत्मकल्याण की विशेष जिज्ञासा और यत्न नहीं बनता । वे सदा असंयमी जीव रहा करते हैं ।

मनुष्य जीव—मनुष्य गति में मनुष्यगति नामकर्म के, उदय से और मनुष्यायु के उदय से ये जीव

मनुष्य हुए हैं । ये मनुष्य. दो प्रकार के हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज । जिन्हें खेती व्यापार आदिक कुछ करके आजीविका बनानी पड़ती है वे कर्मभूमिज हैं और जिन्हें स्वयं ही खड़े हुए कल्पवृक्ष से सर्व इष्ट सामग्री प्राप्त हो जाती है वे भोगभूमिज हैं । तिर्यंच—तिर्यक्गति नाम के उदय से और तिर्यक् आयु के उदय से यह जीव तिर्यंच होता है । समस्त स्थावर, गेडुवा आदिक दोइन्द्रिय, जू आदिक तीनइन्द्रिय भंवरा आदिक चारइन्द्रिय तथा जलचर, थलचर, नभचर आदिक पंचेन्द्रिय अनेक प्रकार के तिर्यंच होते हैं ।

नारकी जीव—नारकी जीव नरकगति तथा नरक आयु के उदय से होते हैं । ये नारकी जीव ७ प्रकार की पृथ्वियों में उत्पन्न होने से ७ प्रकार के कहे जाते हैं और उस ही हिसाब से इनकी लेश्याएँ आयु और क्लेश के साधन सब हुआ करते हैं । उन भूमियों के नाम प्रसिद्ध हैं-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातम: प्रभा । इन भूमियों में उत्पन्न होने से ये नारकी जीव ७ प्रकार के हो गए । नारकों में कैसे दुःख हैं—यह सब वर्णन करणानुयोग त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में कहे गए हैं । रत्नप्रभा को यह जानना कि वहाँ रत्न मौजूद हैं, किन्तु वहाँ उतना ही उजेला है जितना कि रत्न की प्रभा होती है । बाकी तो अंधेरा ही है । अंधेरा बताने के लिए इन सातों का नाम बताया गया है ।

जीवभेदपरिचय से शिक्षा—ये देव, मनुष्य, नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं और संज्ञी ही होते हैं । तिर्यंचों में भेद है—कोई तिर्यंच सैनी पञ्चेन्द्रिय होते हैं और कोई असैनी पञ्चेन्द्रिय होते हैं । एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय—ये जीव नियम से असैनी ही होते हैं ।इस प्रकार इस प्रकरण में संसारी जीवों का भेदविस्तार कहा है । वहाँ यह शिक्षा लेना है कि हम अपने आपकी और नहीं दृष्टि देते हैं । इसका फल यह है कि हमें इन नाना शरीरों में जन्ममरण करना पड़ता है ।

गाथा ११९

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च तेवि खलु ।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ।।११९।।

नवीन भव धारण का हेतु—पूर्व में बाँधे हुए गति नामकर्म के क्षीण होने पर और आयु-कर्म के क्षीण होने पर लेश्या के वश होकर अर्थात् लेश्यावों के कारण जो नवीन गति नवीन आयु बँधी थी

उनके उदय के अधीन होकर यह जीव अन्य गति और अन्य आयु को प्राप्त करता है । गति नामकर्म और आयुकर्म के कारण जो भुव प्राप्त हुए हैं अर्थात् नरकभव, तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव—ये भव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं । यह जीव इन पर उपाधियों के उदय के वश से नवीन-नवीन भवों को धारण किया करता है । कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि मनुष्य मरकर मनुष्य बनता है, देव मरकर देव ही बनता है, पशु मरकर पशु ही बनता है तो यह कल्पना उनकी गलत है । जैसी गति जैसी आयु बँध गयी नवीन-नवीन, उसके अनुसार जीवों को भवों में जन्म धारण करना पड़ता है—मनुष्य मरकर देव, नारकी तिर्यञ्च कुछ बन जाय, तिर्यंच मरकर देव, नारकी, मनुष्य कुछ भी बन जाय । हाँ इन दो गतियों में नियम है कि देव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच ही बनेगा, नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यञ्च ही बनेगा । ऐसा नहीं है कि जो जिस पर्याय में है वह मरकर उस ही पर्याय को धारण करे । यह वर्तमान में चल रही गति और आयु जब फल दे चुकती है, इसका अन्त समय आता है, किसी प्रकार क्षीण हो जाता है तो अब नवीन जो गति और आयु उपार्जित किया था उसका उदय होने पर वह जीव अन्य गति को और अन्य आयु को, अन्य भव को प्राप्त होता है ।

लेश्या का प्रभाव—यह सब अपनी-अपनी लेश्या पर निर्भर है अर्थात् अपने परिणाम के आधीन है । जो जीव जैसी लेश्या के वश हो, वह उस प्रकार की गति बाँधेगा । इस प्रकार लेश्यावों के होने से उस-उस प्रकार की गति बँधती है । यह लेश्या कर्मो का बीज है । कषाय के उदय से अनुरञ्जित होने की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । यह लेश्या कर्म लेपन का काम करती है ।कुछ लीप दिया तो वह बँध गया । कर्मों के लेप का कारण यह लेश्या है । केवल कषाय से भी लेप नहीं होता, केवल योग से भी लेप नहीं होता । यद्यपि यह उदाहरण नहीं मिलता कि जहाँ केवल कषाय हो और योग न हो । लेकिन कषाय का काम केवल कषाय है, उसको देखकर और योग का काम केवल योग है उसको निरखकर फिर समझा जाय तो लेप का कारण कषाय से रंजित योग प्रवृत्ति को ही कहा जायगा । कषाय का कार्य है स्थिति बाँध देना । ये कर्म इतने दिन रहें, लेकिन योग का काम है कर्मत्व परिणमन कर देना, कर्मों का आना । कर्म आयें नहीं तो कषाय किसकी स्थिति बांधे? यद्यपि किसी भी जीव में ऐसा न मिलेगा कि कषाय तो है और योग न हो । यह तो मिल जायगा कि योग तो हो और कषाय नहीं है । जैसे ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थान में कषाय तो नहीं है और योग हैं, पर ऐसा कौनसा जीव है जिसके कोई भी योग न हो, और कषाय बन रही हो? नहीं है ऐसा कोई । तो भी कषाय का कार्य क्या है? इस पर दृष्टि डालने से यह निर्णय होता है कि कर्मलेप का काम लेश्या का है । कषाय से सहित जो योग है वह कर्मलेप का कारण है ।

लेश्याविनाश का उपाय—लेश्या का विनाश करना अपना कर्तव्य होना चाहिए । लेश्या का विनाश कैसे हो? उसका उपाय भावना है । यद्यपि मान, माया, लोभरूप जो चार कषायें हैं उन चार कषायों का जो उदय है, विपाक है उससे यह मैं परमात्मतत्त्व न्यारा हूँ । अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति स्वरूप जो मेरा स्वभाव है उससे मैं अभिन्न हूँ । निष्कषाय और अनन्त चतुष्टयात्मक निज परमात्मतत्त्व में जब भावना की जाती है यह मैं हूँ, यह अमूर्त जिसके साथ किसी भी मूर्त पदार्थ का आघात न हो सके और इसी कारण जो अछेद्य है, अभेद्य है, अव्यवहारी है ऐसा यह मैं परमात्मतत्त्व जब अपने आपकी नजर में सही रूप में दिखने लगता है तब कषायों के विपाक का विनाश हो जाता है । अर्थात् वहां आकुलता नहीं रहती । क्षोभ वहाँ उदित होता है जहाँ अपने इस अमूर्त चैतन्यात्मक आत्मतत्त्व की दृष्टि को त्यागकर बाह्यपदार्थों में अपनायत की बुद्धि कर ली जाती है, यह सब कुछ मेरा है, बस इस परिणति की नींव पर सारे क्षोभ और आकुलता बना करते हैं । जब यह जीव समस्त परभावों से भिन्न केवल चैतन्यस्वरूप निज आत्मा से अभिन्न परमात्मतत्त्व में भावना करता है तब उसके कषाय के उदय का विनाश हो जाता है ।

योगनिरोध की आवश्यकता—शुद्ध अन्तस्तत्त्व की भावना के लिए शुभ अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार का परिहार किया जाता है । मन, वचन, काय का जब अभाव होता है तो लेश्यावों का भी विनाश होता है । करना क्या चाहिए? लक्ष्य में तो यह हो कि मैं अपने उस शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व की भावना करूँ । करना तो यही चाहिए और इसके लिए वर्तमान में उद्यम और क्या चाहिए? यह कि मन कुछ विकल्प न कर सके, किसी भी अन्य पदार्थ में उपयोग न जाय, विचारों का विस्तार न बने, ये वचन न बोले जायें, इन वचनों को रोक दिया जाय और यह काय भी हिले डुले नहीं, कोई प्रवृत्ति न करे, यों मन, वचन, काय को थामने का उद्यम किया जाता है, इसलिए कि हम परमात्मतत्त्व की भावना में सफल हो जायें । तो यों जब योग पर हम काबू करते हैं और कषाय के उदय में नहीं जुटते हैं तो कषाय के उदय से रंजित योग प्रवृत्ति का अभाव होने से फिर गति कर्म, आयुकर्म इनका बन्धन न होगा । बन्धन न होने से उदय भी न होगा । तब उसमें अनन्त सुख आदिक गुणों की प्राप्ति होगी । यह ही है मोक्ष लाभ । सदा के लिए संकटों से छूट जाने का उपाय निष्कषाय स्वस्वरूप मात्र इस निज चैतन्य में ही उपयोग रमा लेना है । इसके प्रसाद से फिर यह जीव बन्धन से छूट जाता है । यह उपाय न हो तो जीवों की स्थिति भवभवान्तरों में श्रमण करने की बनी रहती है ।

नवीनबन्ध का दुष्परिणाम—भैया ! जो कर्म जो गति व आयु आज है वह तो क्रम से फल दे

देकर क्षय को प्राप्त होगी । वह तो भले के लिए है । बूढ़ा होना, मर जाना यह तो भले के लिए है, पर भले के लिए तब है जब आगे को गति और आगे की आयु का बन्ध न किया जाय, पर ऐसा संसारी जीवों में हो कहाँ रहा है? यह वर्तमान गति वर्तमान आयु फल दे देकर नष्ट हो रही हैं । लेकिन अन्य गति और अन्य आयु का बन्ध हो रहा है, क्योंकि कषायें भी हैं, योग की प्रवृत्ति भी है और इस ही पद्धति से यह जीव नवीन गति को, नवीन आयु को प्राप्त, करता है । पहिली आयु गति क्षीण हुई, नवीन आयु गति की प्रबलता हुई, नये-नये बने । इस प्रकार ये दोनों कर्म गति और आयु यद्यपि मेरे स्वभाव नहीं हैं फिर भी चिरकाल से ये बराबर संतान लगाये हुए हैं और इस आत्मा को संसरण कराते रहते हें । ऐसी है इन व्यामुग्ध जीवों की स्थिति ।

आत्मानुभूति का कर्तव्य—इस अकल्याणमय स्थिति के अभाव के लिए कर्तव्य केवल यही करना है कि हम अपने आपके स्वरूप को यथार्थदृष्टि में ले । यह मैं आत्मतत्त्व रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित केवल चैतन्यस्वरूप हूँ, अमूर्त हूँ, अछेद्य हूँ, अभेद्य हूँ । यों अपने इस सहजस्वरूप के परिणमन से इस आत्मा में शुद्ध वृत्ति जगती है, निराकुलता की वृत्ति बनती है और इस वृत्ति में जो सहज आनन्द प्रकट होता है बस वही तो आत्मा का उत्कृष्ट रूप है । उस आनन्द की अनुभूति के प्रसाद से सर्वविभावों का क्षय हो जाता है ।

गाथा १२०

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा ।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ।। १२० ।।

जीव का द्वैविध्य—ये जितने भी संसारी जीव निकाय कहे गए हैं वे देह प्रवीचार का आश्रय करने वाले हैं अर्थात् देहधारी हैं, देह में रहने वाले हैं, देह में अपने को एकमेक करने वाले भी हैं, किन्तु सिद्ध भगवान देहरहित हैं, वे देह में नहीं रहते, वे शुद्ध हो गए हैं अर्थात् जो यह केवल सत् हैं, आत्मा ही आत्मा अब रह गए हैं । न शरीर का सम्बंध है, न कर्म का सम्बंध है और इसी कारण न उनमें किसी प्रकार की विभाव तरंग है । उनका आत्मा अपनी ही स्वरूपानुभूति के कारण सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना हुआ है । इस प्रकार जो देह प्रवीचारी हैं, सं देह हैं वे तो संसारी है और जो देह विहीन हैं वे मुक्तजीव है ।

संसारियों का द्वैविध्य—ये संसारी जीव यद्यपि सभी सदेह हैं, देहों में रहते हैं और इस पद्धति से वे सब एक प्रकार हैं तो भी ये संसारी जीव भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के हैं । भव्य उन्हें कहते हैं जो शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने की शक्ति रखते है, अभव्य उन्हें कहते हैं जो शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की शक्ति नहीं रखते हैं । जैसे मूँग कोई-कोई ऐसी भी होती हैं कि दिनभर भी बटलोही में आग पर रखी रहे तो भी नहीं पकती है, जैसे कुलड़ मूँग कहा करते हें । अक्सर तो मूंग पकने वाली ही होती है । मानो मन भर मूँग के दानों में कोई एक दाना कुलड़ मूँग का होता है । अच्छे दानों की संख्या अत्यन्त अधिक है और ऐसे कुलड़ दानों की संख्या अत्यन्त कम है, लेकिन उनमें स्वरूप देखो मूँग का पाया जा रहा है । रूप, रस, गंध, स्पर्श, हरित अवस्था ये सब वैसे ही वैसे हैं । सभी स्थितियों में वे मूँग के दानों के समान होने पर भी देखिये उस मूँग के दानों में तो पकने की शक्ति है और कुलड़ मूँग के दानों में पकने की शक्ति नहीं है । ऐसे ही संसार में भव्य जीव तो अनन्तानन्त हैं, अभव्य जीव तो भव्य जीवों के अनन्तानन्तवें भाग हैं, अत्यन्त कम हैं, किन्तु होते हैं कोई जीव ऐसे जिन में शुद्ध आत्मस्वरूप के उपलब्धि की शक्ति नहीं पायी जाती ।

भव्य व अभव्यों में समता व विषमता—सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता अभव्य जीवों के नहीं पायी जाती है, लेकिन जीव का जो लक्षण है वह दोनों में एक समान है, पर न व्यक्त हों पायेंगे वे इस तरह । जिसमें चैतन्यस्वभाव का सद्भाव हों उसे जीव कहते हैं ।, ऐसा जीव-पना जैसा भव्य में है वैसा ही अभव्य में है, कोई अन्तर नहीं है । ऐसे एक समान जीवत्व के होने पर भी जो सम्यक्त्व प्राप्ति की शक्ति त्यक्त नहीं कर पायेंगे उन्हें अभव्य कहते हैं । जैसे एक स्वर्णपाषाण होता है और एक अंधपाषाण होता है, ये दोनों ही स्वर्ण में पाये जाते हैं, पर एक पाषाण में स्वर्ण व्यक्त हो जायगा और एक पाषाण में स्वर्ण व्यक्त नहीं हो पाता, परजाति तो वही है, ऐसे ही जीवत्व जाति से समान होने पर भी कोई जीव भव्य है और कोई जीव अभव्य है ।

पारिणामिक भाव—यह भव्यपना और अभव्यपना न तो कर्मों के उदय से होता है न उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होता है । यद्यपि मोक्ष पर्याय तो व्यक्त नही होती, यह कर्मों के उदय से होती है, लेकिन इस जीव में त्रिकाल भी मोक्ष पर्याय व्यक्त करने की शक्ति नहीं है । इस जीव में ऐसी बात का होना न कर्म के उदय से है, न उपशम क्षय क्षयोपशम से है । इस कारण भव्यत्व भाव को पारिणामिक और अभव्यत्व भाव को भी पारिणामिक कहा है । जीव के ५ भावों में पंचम भाव पारिणामिक भाव है । पारिणामिक भाव के ३ भेद हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । जीवत्व के भी २ प्रकार कहे हैं । जो १० प्राणों करके जीवे उसका भी नाम जीवत्व और एक चैतन्यस्वभाव से रहे,

चैतन्य प्राणों से रहे, जिये, उसका भी नाम है जीवत्व । तो अब पारिणामिक भाव को चार रूपों में निरख लीजिए । एक शुद्ध जीवत्व चैतन्य की अपेक्षा जीवत्व और एक दस प्राणों की अपेक्षा जीवत्व । भव्यत्व और अभव्यत्व इनमें से चैतन्य प्राणों से जीवे ऐसा जीवत्व ही शुद्ध पारिणामिक भाव है । दस प्राणों से जिये उसके कारण कहलाने वाला जीवत्व अशुद्ध पारिणामिक है और भव्यत्वभाव और अभव्यत्वभाव भी अशुद्ध पारिणामिक है । तो ऐसे उस शुद्ध जीवत्व की दृष्टि से समान होने पर भी संसारी जीव भव्य और अभव्य दो प्रकार के कहे गये हैं ।

जीवभेदव्याख्यान का प्रयोजन—यह प्रकरण है मोक्षमार्ग के प्रतिपादन में ९ पदार्थों के वर्णन का । ९ पदार्थों का स्वरूप जाने बिना मोक्षमार्ग में कदम क्या उठाया-जायगा? सबसे प्रारम्भ में जो बात सीखना चाहिए उसका प्रतिपादन इस अधिकार में सर्वप्रथम किया जा रहा है । ९ पदार्थों में सर्वप्रथम नाम है जीवपदार्थ का । ये जीव कैसे-कैसे हुआ करते हैं इसका वर्णन यहाँ चल रहा है ।

गाथा १२१

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।
जं हवदि तेसु णाणं जीवोत्ति य तं परूविंति।।१२१।।

भेदों में जीवत्व का परमार्थ से अभाव—इससे पहिले जो जीव का विस्तार बताया गया है इसमें इन्द्रियों का वर्णन है, कायों का वर्णन है और उन वर्णनों से व्यवहार में ऐसा विदित हुआ कि जो इन्द्रियाँ हैं ये ही जीव हैं । कोई एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय है ये इन्द्रियों जो बाह्य में दिख रही हैं ये ही सब जीव हैं, और ये ६ प्रकार के जो काय हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय व त्रसकाय, ये ही जीव हैं । ऐसी बुद्धि लोगों की व्यवहार में क्यों बनती है? इस कारण बनती है कि यहाँ सर्वत्र जीव और पुद्गल का परस्पर अवगाह पाया जा रहा है तो जो सामने दिखा, जिससे हमारा व्यवहार चलता है उसकी प्रधानता से हम जीव की प्रधानता करने लगते हैं और यह कहने लगते हैं कि ये सब जीव हैं और ऐसा व्यवहारनय से है भी ।

जीवनिकायों में अजीवत्व के एकान्त में आपत्ति—यदि हम इन सजीव शरीरों को अजीव ही सर्वथा मानकर अपना एक कोई निर्णय बना लें तो फिर हिंसा नाम किसका है? जो जीव है असल में उसे तो कोई छू नही सकता । उसकी हिंसा कोई क्या करेगा? जिसको छुवा जाता है उसको

एकान्त से मान लिया अजीव पुद्गल, तो जैसे राख को चूर कर दिया तो उसमें हिंसा तो नहीं लगती, क्योंकि वह पुद्गल है, अजीव है, ऐसे ही इन कायो को चूर देने में फिर हिंसा क्यों लगना चाहिए, ये भी पुद्गल हैं । तो यद्यपि ये सब जीव हैं व्यवहारनय से, यह बात ठीक है, फिर भी निश्चयनय से देखा जाय तो उन सब संसारी जीवों में जो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियाँ पायी जाती हैं ये सब जीव नहीं हैं, और पृथ्वी आदिक शरीर पाये जाते हैं ये सब जीव नहीं हैं, क्योंकि इनमें जीव का लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव नहीं पाया जाता, इस कारण ये सब अजीव हैं, जीव नहीं हैं ।

भवों में जीवत्व के प्रतिषेध का भाव—यहां एक सूक्ष्मदृष्टि का अन्तर भी निरखिये । इन ६ कायों और इन्द्रियों को एक इस पद्धति से कहे कि ये जीव नहीं हैं और एक इस पद्धति से कहें कि ये अजीव हैं तो इनमें भी कुछ अन्तर आ जाता है । ये इन्द्रियाँ और काय जीव नहीं हैं, इनमें तो संभाल बनी हुई है । जीव चैतन्यस्वरूप है, ये जीव नहीं हैं और ऐसा जोर दिया गया कि इन्द्रिय और काय ये सब अजीव हैं । इससे निर्णय की संभाल में कमी आयी है । ये एकान्तत: अजीव ही हैं, पुद्गल ही हैं—इस प्रकार की ध्वनि जगने लगती है । यद्यपि ये व्यवहारनय से जीव कहलाते हैं तो भी निश्चयनय से ये इन्द्रियाँ और ये काय जीव नहीं हैं, फिर कौन जीव है सो सुनिये ।

परमार्थ से जीवत्व का निर्देशन—इन सब इन्द्रिय जातियों में इन सब द्रव्यास्तिकायों में अंत: जो स्वपर का परिच्छेदन करने रूप से प्रकाशमान ज्ञान है वह ज्ञान ही जब गुणगुणी के कथचित् अभेदरूप से निरखा जाता है तो आपको विदित होगा कि लो यह जीव है, अर्थात् इन समस्त देहधारियों में जो प्रकाशमान एक ज्ञानभाव है वह ज्ञान ही जीव है । ऐसा सीधा कहने में थोड़ी अटक वह आ जाती है कि ज्ञान तो एक स्वभाव है, धर्म है, वह तो जीव नहीं है । जीव में ही यह ज्ञान पाया जाता है, लेकिन जीव और ज्ञान भिन्न-भिन्न चीजें तो नहीं हैं । एक ही पदार्थ को जब हम उसके किसी धर्म की मुख्यता से कहते हैं तो वह धर्म धर्मी बन जाया करता है । किसी भी धर्मी को कोई शब्दों में कह नहीं सकता । कहेगा तो किसी धर्म का नाम लेकर कहेगा । तो यह ज्ञान गुण हुआ और ज्ञान में तन्मय पदार्थ गुणी हुआ । इस गुण और गुणी का अभेद करके जो बात निरखने में आती है वह ही जीव है ऐसा प्ररूपण करना चाहिए, ऐसा मानना चाहिए ।

आत्मदृष्टि के लिये भेदपरिज्ञान—जीव पदार्थ का प्रथम वर्णन चल रहा है, उसमें जीव के प्रभेद का कुछ अनेक प्रकार से विस्तार किया गया है । इन्द्रियों की अपेक्षा से, शरीर की अपेक्षा से, जन्म और मरण की अपेक्षा से, भव्यत्व और अभव्यत्व की अपेक्षा से यों अनेक प्रकारों से जीवपदार्थों का

वर्णन किया है । वे सब भेद विस्तार उपदेश की बातें व्यवहारनय से है । इनमें प्रयोजनीभूत जिसकी श्रद्धा करने से जीव को सम्यक्त्व होता है, शान्ति का मार्ग मिलता है उस जीवका स्वरूप यहाँ ध्यान में लेते रहना चाहिये । ये इन्द्रियां और ये सब काय जीव निश्चय से नहीं हैं, किन्तु इन सब देह के धारियों में .जो अपने को और दूसरे को जान लेने का स्वभाव रखने वाला ज्ञान पाया जाता है उस ज्ञान को उस ज्ञान के आश्रयभूत उससे असंख्यात प्रदेशों से अभेदरूप कर देने पर, क्योंकि स्वभाव से स्वभाववान भिन्न होता ही नहीं है, उस दृष्टि से जो एक ज्ञानमयता दृष्टि में आयी है उसे जीवरूप समझना चाहिए । और यह मैं हूं—इस प्रकार का विश्वास करके अपने को निराकुल अनुभव में लेना चाहिए ।

गाथा १२२

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो ।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ।। १२२ ।।

जीव के कार्य व चेतन कार्य—इस गाथा में वे सब कार्य बताये जा रहे हैं जो जीव के सिवाय अन्य जीवों में न पाये जायें । यह जीव सबको जानता है, सबको देखता है, सुख को चाहता है, दुःख से डरता है, हित अथवा अहित को करता है और उन हित अहित क्रियावों के फल को भोगता है । इस गाथा में जानना, देखना, चाहना, डरना करना और भोगना—इन ६ बातों पर प्रकाश डाला है । जीव चैतन्यस्वभावी है । इस कारण कर्ता में रहने वाली क्रिया का याने जानने का देखने का जीव ही कर्ता हो सकता है । उस जीव से सम्बंधित पुद्गल कर्ता नहीं होता । जैसे आकाश आदिक पदार्थ जहाँ जीव हैं वहाँ आकाश है, फिर भी जानने देखने का कर्ता आकाश आदिक नहीं हैं । इसी प्रकार जीव से सम्बंधित ये शरीर ये कर्म सब कुछ हैं, फिर भी ये जीव के परिणमन के कर्ता नहीं होते हैं । सुख की इच्छा, कर्मरूप किया और दुःख से डरने रूप क्रिया और अपने आप में समझा गया जो हित अथवा अहित है उसके रचने की क्रिया तथा चैतन्यभाव के विवर्तन रूप संकल्प से उत्पन्न हुई भोगने रूप क्रिया इनका भी कर्ता जीव ही है, अन्य कोई नहीं है ।

सुख की चाहना व दुःख से डरना रूप कार्य—सुख की इच्छा जीव ही कर सकता है, पुद्गल नहीं कर सकता । दुःख से डरने की बात जीव ही कर सकता हैं, पुद्गल नहीं कर सकता है । एक स्वरूप की बात है, इस बात को सुनकर ख्याल तो यह आ सकता है कि हम जीव न होते, पुद्गल ही होते तो भला था । इतने विकल्प, संकल्प, डर, शंकाएँ करने का अवसर तो न होता, किन्तु

कल्पनाएँ करना व्यर्थ है । जो पदार्थ जैसा है वह वही है । यह तो एक दुःख से भयभीत होने की दृष्टि में कल्पना उठती है । जब जीव के स्वरूप की उत्कृष्टता सोची जाय तो सर्व लोकालोक को सर्व काल से, सर्व देश से, एक सामान्यतया निर्दोष रूप से जानने की सामर्थ्य इस आत्मा में है । समस्त द्रव्यों में सार उत्कृष्ट तो आत्मतत्त्व है । कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि हम अपने में से विभावों को दूर करें, मिथ्यात्व को हटाये, अज्ञानभाव को न पनपने दें, सबका जैसा स्वरूप है उस ही स्वरूप के जाननहार रहें तो इस प्रवृत्ति से हमारी विजय होगी ।

जीव का घातक भाव—इस जीव का घातक भाव तो मोह राग और द्वेष भाव है । इन मोहादिक भावों से आत्मा का वह शुद्ध चैतन्यप्राण जो कि स्वयं आनन्द का अविनाभावी है, शुद्ध है, सारभूत है वह बरबाद हुआ जा रहा है, और इससे मोह की तरंग जो उठती है उससे यह एकदम परोपयोगी हो गया । इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जब यह जीव परोपयोगी होता है, परपदार्थों की ओर अपना उपयोग दौड़ाता है उस समय में यह विह्वल हो जाता है और जब पर से उपयोग निवृत्ति करके एक अपने आपकी ओर ही झुकता है, अपना एकत्व स्वरूप अपनी दृष्टि में रहता है, उस समय संकट सब विदा हो जाते हैं ।

आत्मा के एकत्व स्वरूप के स्मरण का प्रभाव—अभी के वर्तमान विचारों से ही देख लो—देश की विकट स्थिति में यद्यपि बहुत-बहुत संकटोन्मुखी विकल्पों में उपयोग रहता है और विचारणीय बातें भी होती हैं, फिर भी जिस काल में यह दृष्टि जगे कि यह मैं आत्मा केवल निज स्वरूपमात्र हूँ, अमूर्त हूँ, न मेरा कोई देश है, न मेरा कोई घर है, न मेरा कोई शरीर है ये तो क्षणिक समागम हैं । आज यहाँ उत्पन्न हैं, कल दूसरी जगह उत्पन्न हैं । मोही जीव जहाँ उत्पन्न होते हैं मोहवश वहाँ को ही अपनाए रहा करते हैं । यह मैं आत्मा तो एक पक्षी वत् यत्र-तत्र विहार करने वाला हूँ । यह आत्मा आज इस भव में है, पहिले किसी भव में था, आगे किसी भव में होगा । जब इस मुझ एकाकी आत्मा के सम्बंध में एकाकीपन की दृष्टि जगती है और तब ही इसे कुछ सन्तोष भाव होता है।

ज्ञानपद्धति पर सन्तोष की निर्भरता—सन्तोष बाह्य पदार्थों से नहीं होता, किन्तु यह सब ज्ञान की कलावों पर निर्भर है । ज्ञान किस पद्धति का हो कि सन्तोष मिले, और किस पद्धति का हो कि असन्तोष मिले? इसका खूब विश्लेषण कर लो तो अन्त में यही सिद्ध होगा कि सब कुछ ज्ञान पर निर्भर है । हमारा सारा भविष्य किस प्रकार का बनेगा, यह हमारे ज्ञान पर निर्भर है । हम अपने ज्ञान का प्रयोग ज्ञानस्वभाव पर करते हैं, अपने को अकेला लखते हैं अर्थात् केवल चैतन्यस्वरूपमात्र सबसे

न्यारा । मेरा किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं, जगत में अनन्तजीव हैं, ऐसे ही समागम में आये हुए ये भी जीव हैं । वस्तुस्वरूप में देखो तो सारे जीव मेरे स्वरूप से न्यारे हैं, त्रिकाल भी मेरा और दूसरे जीव का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, एकता नहीं हो सकती । जब भी अपने एकत्व स्वरूप पर दृष्टि जाय तो वहाँ शान्ति मिलती है ।

तात्त्विक क्रिया के अवगम का प्रयोजन एकत्वविभक्तदर्शन—इस गाथा में इस जीव का शुद्ध और अशुद्धपने का विभाग न कर के एक सर्व साधारण, अन्य-अन्य साधारण कार्यों को बताया जा रहा है । यह जीव पदार्थों के जाननरूप क्रिया का कर्ता है । इस जीव के साथ जो यह शरीर है, यह कर्म है, ये कोई भी इस जानन क्रिया के कर्ता नहीं हैं, इसी प्रकार देखने रूप क्रिया के कर्ता नहीं हैं, ये हैं, पर ये रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले हैं । यह शरीर था कहाँ? जीव तो पूरा का पूरा यह पहिले भी था जिस गति से मरकर आया है, इसने जिस गति में अपना स्थान बनाया, रुक गया, वहाँ जो बीजभूत शरीर के कारणभूत जो थोड़ीसी शरीरवर्गणायें थीं वे हो इस जीव के सम्बंध को पाकर बढ़-बढ़कर आज अंगोपाङ्ग के रूप में इतनी फैल गयी हैं ।यह शरीर था कहाँ मेरा? यह किस सम्बन्ध से इस प्रकार से बनकर तैयार हुआ है? मायारूप है । और यह शरीर रहेगा कब तक? जैसे हम दूसरों के शरीर को देखा करते हैं । जीव के चले जाने पर लोग अपने घर में उसे दस-पाँच मिनट भी ठहरने नहीं देते, जल्दी से जल्दी निकालकर जलाने की या जमीन में गाड़ने की कोशिश करते हैं । यह शरीर मेरा है कहाँ? जिस शरीर की ममता कर के सारा जीवन किरकिरा बना दिया जाता है । मैं तो इन सबसे भिन्न एक ज्ञानमात्र त्रिकाल स्थायी तत्त्व हूँ । यह जीव ही जानने और देखने का कर्ता है ।

चाहक्रिया—सुख के परिणमन की ओर लगाव लगाने का जो यत्न है उस ही का नाम इच्छा है । इच्छा भी यह किसकी करता है? मुझे सुख मिले । प्रत्येक जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं । जिसमें जितनी योग्यता है वह अपनी योग्यता के अनुसार सुख प्राप्त करने का यत्न करता है । दो इन्द्रिय जीव भी सुखी रहने के लिए अपने में लिपट जायें, जमीन में बिल बना लें, जिन-जिन बातों को वे करते हैं वे सुख की चाह से ही करते हैं । पशुपक्षी जो-जो भी कार्य करते हैं वे सुख की चाह से ही तो किया करते हैं । हाँ मनुष्य इन सब जीवों से बहुत बड़ा जानवर है । जानवर मायने जो ज्ञान में बड़ा है । यह अपना महल बनाये, वैभव बनाये, ऐश्वर्य बढ़ाये । कितने-कितने साज श्रृङ्गार और कलावों से यह सुख पाना चाहता है ।

तृष्णा में निरर्गल अभिलाषा—सर्व सुविधा होने पर भी मनुष्य के सुख पाने की इच्छा की सीमा

नहीं होती । क्योंकि जितने भी जो कोई सुख प्राप्त हैं मोह के कारण उसे वह सुख नहीं जंचता है । आगे की दृष्टि होती है, मुझे और भी सुख चाहिए । यों पाये हुए समागमों में जो भी सुख प्राप्त होता है उसमें सन्तोष नहीं होता हैं । जैसे कोई पुरुष एक लाख का धनी है तो उसे इस एक लाख के समागम का तो सन्तोष नहीं होता । उसके यह इच्छा रहत कि मैं और धनी बनूँ तो उस तृष्णा में पाये हुए वर्तमान समागम का भी सुख नहीं ले पाता है । तो इच्छा में यह इतना बढ़ा हुआ है । इस इच्छा को यह जीव ही करता है विभाव नहीं करते, शरीर नहीं करते ।

दुःख से डरने का कार्य—दुःख से डरने की बात तो प्राय: सब संसारी जीवों में पायी ही जाती है । हर एक कोई दुःख से डरता है और उन दुःखों में सबसे बड़ा दुःख माना जाता है मरण का । प्रत्येक जीव मरण से डरते हैं और कोई लोग चाह-चाहकर मरण करते हैं । कोई लोग यह सोचते हैं कि बुरी तरह से जिये तो क्या जिए । इससे तो मरना अच्छा है । वे बुरी तरह से जीने की स्थिति से इतना डरे हैं कि वे मरण को पसंद करते हैं, मगर दुःख से भयशीलता प्रत्येक प्राणी में पायी जाती है ।

हिताहितक्रिया—५ वीं बात कही गई है कि यह जीव हित और अहित को करता है । शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग-तीन प्रकार के उपयोग ही तो हैं । कोई जीव शुभोपयोग का कर्ता है । कोई अशुभोपयोग का कर्ता है और कोई शुद्धोपयोग का कर्ता है । पर ये सभी के सभी जीव इस भाव से कर्ता हो रहे हैं, इस पद्धति से कर्ता हो रहे हैं कि यह हित है, इसे किया जाय और यह अहित है, इसे न किया जाय । अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अशुभोपयोग से अपना हित मान रहे हैं और शुभोपयोग व शुद्धोपयोग उन्हें विपदा जंच रहे हैं । उनके लिए उनका चित्त नही चाहता है । वे अशुभोपयोग से हित मानते हैं और शुभोपयोग से अहित मानते हैं, पर हित को करना और अहित को न करना, इस प्रकार की जो वृत्ति है, इस क्रिया को करने वाला यह जीव ही हो सकता है, अजीव नहीं होता ।

उपभोगक्रिया—छठवीं बात यह कही गई है कि यह जीव शुभ अशुभ कर्मों का फलरूप जो उपभोग करता है, इष्ट विषयों का भीगना, अनिष्ट विषयों का भोगना अर्थात् सुख भोगना दुःख भोगना इनका भी कर्ता अर्थात् सुख दुःख का भोक्ता यह जीव ही है अन्य कोई नहीं हो सकता । जीव वास्तव में भोगता किसे है? यह अशुद्ध जीव वास्तव में अपने अशुद्धभावों का भोक्ता हो रहा है । अपने परिणमन के सिवाय अन्य पदार्थों के परिणमन को यह जीव भोग नहीं सकता है । पर, व्यवहारदृष्टि

से और उसमें भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से देखा जाय तो यह द्रव्यकर्म का भोक्ता है और उपचरित दृष्टि से देखा जाय तो यह विषयों का भोक्ता है, भोजन का भोक्ता है, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक का भोक्ता है, ये बातें उपचरित दृष्टि से हैं ।

नयविभाग से उपभोग का वर्णन—भोगने के सम्बन्ध में ये तीन दृष्टियां लाइए । कोई लोग यह कहते हैं कि यह वैभव का भोक्ता है । तो कोई लोग यह कहते हैं कि यह कर्मफल का भोक्ता है, कर्मों का भोक्ता है, तो कोई लोग यह कहते हैं कि यह तो अपनी कल्पनाओं का भोक्ता है । ये तीन बातें तीन नयों से सही होती हैं । उपचारनय से तो यह जीव विषयो का भोक्ता है, अर्थात् विषयों का और सुख दुःख का कुछ सम्बंध नहीं है, केवल भोग के परिणाम होने के समय ये विषय ज्ञान के विषयभूत हो रहे हैं । लेकिन चूंकि उनका आश्रय कर-कर के यह अपने परिणाम बनाता है, इस कारण उनका भोक्ता बताया जाता है । कर्मों के साथ इस जीव का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है । अशुभ कर्म उदय में आते हैं तो इस जीव के अशुभ भाव बनता है, तो चूँकि उन कर्मों का निमित्त पाकर यह विभाव बनता है, अतः कहा जाता है कि यह जीव कर्मो को भोगता है, पर निश्चयनय से देखा जाय तो यह जीव अपने आप में जो सुख दुःखरूप परिणमन होता है उस परिणमन का भोक्ता है । कोई जीव शुद्ध हो तो शुद्ध निश्चय से देखने पर वह केवलज्ञानादिक रूप अनन्त चतुष्टय परिणमन को भोगता है । इस प्रकार शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध भावों का भोगने वाला भी जीव है, अन्य पुद्गल आदिक नहीं हैं ।

नव पदार्थों में प्रथम पदार्थ का प्रकरण—यहाँ इस गाथा से यह सिद्ध किया गया है कि ऐसे-ऐसे असाधारण कार्य आत्मा के ही सम्भव हैं, पुद्गल आदिक के सम्भव नहीं हैं । ९ पदार्थों के अधिकार में यह जीवपदार्थ का वर्णन चल रहा है । इनका सम्बंध मोक्षमार्ग से है । मोक्षमार्ग जिसके प्रकट होता है उसके प्रयोजनीभूत जिन नव पदार्थों का श्रद्धान चलता है, उनमें से जीवपदार्थ का यह वर्णन है । अब जीवपदार्थ के वर्णन के समय उपसंहार रूप में यह गाथा आ रही है ।

गाथा १२३

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जयेहिं बहुगेहिं ।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहि लिगेहिं ।। १२३ ।।

अजीव पदार्थ के वर्णन की भूमिका—इस प्रकार अन्य भी अनेक पर्यायों से आत्मा को जानकर

ज्ञान से भिन्न जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदिक भाव हैं उन चिह्नों से अजीव की पहिचान करो । यह गाथा जीव पदार्थ के वर्णन और अजीव पदार्थ के वर्णन की संधिरूप है । जैसे कुछ ऊपर चिह्न बताये गए हैं कि इन-इन परिणमनों को देखकर हम समझे कि यह जीव है इसी प्रकार व्यवहारनय से इन सब परिणमनों से जो कर्म ग्रन्थों में बताये गए हैं—जीवस्थान गुणस्थान, मार्गणास्थान इनके भेद प्रभेद उन सब प्रसंगों के द्वारा भी उन विचित्र विकल्पों से भी तुम जीवतत्त्व की पहिचान कर लो ।

जीव का व्यवहारनय से परिचय—ये गुणस्थान अजीव में नहीं होते, जीव में ही होते हैं । जीव के ही सम्यक्त्व गुण और चारित्रगुण की अवस्था जो होती है वे गुणस्थान हैं, ये जीव के परिणमन हैं । जीव समास यद्यपि इन जीव समासों में जो एक दृश्य अंश है वह पुद्गल है लेकिन यह सब कुछ होना जीव के सम्बंध बिना नहीं बनता । इस कारण जीवसमास से भी हमें जीव का परिचय मिलता है । गतिमार्गणा नरक, तिर्यंच, मनुष्य आदिक गतियाँ ये सब जीव की ही तो खोज कराती हैं । यह जीव है, यह एकेन्द्रिय है, यह दोइन्द्रिय है, यों इन्द्रियों के द्वारा भी जीव की खोज बनती है । यह सब वर्णन व्यवहारनय का है । इन गुणस्थान आदिक के द्वारा जीव का परिचय कराना व्यवहारनय से है ।

व्यवहारनय से जीव का विविध परिचय—निश्चयनय तो केवल एक सहजस्वभाव को दिखाया करता है । यह नाना परिणतियां बताने वाला व्यवहारनय ही है । ये ६ प्रकार के काय हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय । यद्यपि ये सब शरीर के पिण्ड हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श इनमें हैं, इस कारण ये दृश्यमान अजीव हैं । किन्तु ऐसा काय, आकार जीव के सम्बंध के बिना नहीं बन सकता । तो उन कायों का निर्णय करते हुए जीव का परिचय होता है, और भीतर चले तो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंद निरखा । उन प्रदेश परिस्पंदों को निरखकर हम जीव को ही ढूँढ रहे हैं । यह मनोयोग है, यह वचनयोग है, यह काययोग हैं—यों निरख-निरखकर हम उस जीव का ही परिचय पा रहे हैं । यों हो और भीतरी अनुभव पर दृष्टि डालते हैं तो वेद कषायरूप से हमें जीव का परिचय मिलता है । तो इन वर्गणावों से हमने व्यवहारनय से जीव ही जाना । और भीतर चले तो ज्ञान द्वारा ज्ञान की चेष्टावों से हमें इस ज्ञाता का ही परिचय मिला । यह मतिज्ञानी है, यह श्रुतज्ञानी है, इस प्रकार ज्ञान के उपाय से हमने जीव को ही खोजा । संयम के उपाय से भी तो हम जीव की पहिचान करते हैं कि यह जीव संयमी है, यह असंयमी है । इस प्रकार संयमासंयम के भेद बताकर हम जीव का ही तो परिचय पाते हैं । यों ही दर्शन, लेश्या इन सब साधनों के द्वारा हम जीव का परिचय पाते हैं, पर यह सब परिचय व्यवहारनय से है।

निश्चयनय से जीवपरिचय की पद्धति—निश्चयनय से तो दो प्रकार की पर्यायों में परिचय मिलेगा—अशुद्ध पर्यायों में, शुद्ध पर्यायों में । मोह रागद्वेष के परिणमन से यह विश्वरूपता, नानारूपता उत्पन्न हुई है । अशुद्ध निश्चयनय से हम इन अशुद्ध पर्यायों से जीव का परिचय पाते हैं । और जब ये अशुद्ध परिणतियां नहीं रहती हैं तब शुद्ध निश्चयनय से केवलज्ञानादिक शुद्ध परिणमनों से हम जीव का परिचय पाते हैं । जैसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व में गतिरहित, इन्द्रियरहित—इन भेदों से हम शुद्ध जीव का परिचय पाते हैं ।

अजीवपरिचय—इस प्रकार जीव का परिचय प्राप्त करके अब उस अजीव का भी परिचय पावो जिस अजीव के सम्बंध से जिस अजीव में चित्त फंसाकर, जिस अजीव के प्रेमी बन-बन-कर हमने अब तक नाना क्लेश भोगे हैं । एक अजीव का प्रेम न होता तो इस जीव को कष्ट क्या था? अब भी जितना कष्ट है वह अजीव तत्व के प्रेम का कष्ट है । जिसमें चैतन्यस्वभाव नहीं है, जो ज्ञान से अत्यंत जुदा है, जो अनेक लिङ्गों से, मायाजाल प्रपंचों से सहित है, आकार-प्रकार, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के लिङ्गों के द्वारा जीव को पहिचानना, सभी अजीवों को पहिचानना । कोई अजीव जीव से सम्बद्ध है, कोई अजीव जीव से सम्बद्ध नहीं है, मगर उन सभी अजीवों को चाहे वह जीव से सम्बद्ध हो, चाहे जीव से असम्बद्ध हो उनसे भेदबुद्धि बनाओ । भेद-बुद्धि बनाने के लिए अजीव को भी जानना होगा ।

अजीव से पृथक् होने के उपाय का अन्वेषण—जीव और अजीव जब अनादिकाल से एक सम्बंध में चले आ रहे हैं, एक क्षेत्रावगाही हो रहें हैं, निमित्तनैमित्तिक बन्धन चल रहा है तो इस संकट को हम दूर तब कर पायेंगे अर्थात् इस अजीव तत्त्व को हम अपने स्वरूप से जुदा तब ही कर पायेंगे जब हम पहिले समझ तो ले कि ये जुदे हो सकते हैं । ये अजीव मुझ जीवस्वरूप से जुदे हो सकते हैं, यह बात तब समझी जा सकती है जब वर्तमान में ही हमें ऐसा परिचय मिल जाय कि ये तो अब भी न्यारे ही हैं । इस अजीव का स्वरूप इस अजीव में है, इस जीव का स्वरूप इस जीव में है । जीव में अजीव त्रिकाल नहीं आता, अजीव में जीव त्रिकाल नहीं आता, इस प्रकार का पार्थक्य हमें वर्तमान में भी समझ में आये तो यह बात प्रतीति में बन जायगी कि ये किसी दिन एकदम जुदे-जुदे हो सकते हैं । उस कैवल्यस्वरूप को पाने के लिए हमें अभी से इन पदार्थों से भेदविज्ञान करके 'यह मैं आत्मा केवल निज चैतन्यस्वरूपमात्र हूं' ऐसी प्रतीति करनी चाहिए । इस प्रकार इस गाथा तक जीवपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

गाथा १२४

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीव गुणा,
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ।।१२४।।

उपादेय व अनुपादेय पदार्थों का निर्देश—जीव पदार्थ का व्याख्यान करके अब जीवपदार्थ से विपरीत जो स्वरूप रखते हैं उन अजीव पदार्थो का व्याख्यान किया जा रहा है । ये अजीव पदार्थ शुद्ध जीव पदार्थ से भिन्न हैं और ऐसा ही समझ में लाने के लिए अजीव पदार्थ का वर्णन किया जाता है । इस जीव के उपादेयभूत शुद्ध जीव पदार्थ हैं अर्थात् इस जीव में जो सहज निज ज्ञायकस्वभाव है तावन्मात्र ही मैं हूँ, इस प्रकार की रुचि करना, ऐसी ही दृष्टि करना और इसमें ही रमण करना, यही है शुद्ध जीवपदार्थ की उपादेयता । यह शुद्ध जीवपदार्थ अशुद्ध समयसार नाम से कहा जाता है । अपने आपमें जो औपाधिक भाव जगे हैं उन औपाधिक भावों का स्वभाव में अधिष्ठान न मानकर केवल एक चैतन्यस्वभावमात्र अपने को निरखना, यही है शुद्ध समयसार का ग्रहण । जीवादिक जो ९ पदार्थ हैं उनका जो कुछ भी वर्णन है उन सब वर्णनों में मर्मभूत अन्तर्गत लक्ष्य यही एक शुद्ध समयसार है । जो केवलज्ञानादिक अनन्त गुणों के स्वरूप वाला है अर्थात् जिस स्वभाव का शुद्ध विकास ही अनन्त ज्ञानादिक कहा जाता है जिसमें भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म का अभाव है । जहाँ नर-नारकादिक गतियों का अभाव है, मतिज्ञानादिक विभाव गुणों का अभाव है, ऐसा जो शुद्ध चैतन्यमात्र जीवास्तिकाय है वह उपादेयभूत है, उससे विलक्षण जो अजीव पदार्थ हैं उनका इस गाथा में वर्णन किया गया है ।

चेतक और अचेतक पदार्थ—आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म में जीव के गुण नहीं हैं, इस कारण इन पदार्थों को अचेतन कहा गया है । अचेतनता तो केवल जीव में है । चेतकपना उसे कहते हैं जो स्व और पर का परिच्छेदक हो । जीव में समस्त सत् के ज्ञान करने का स्वभाव है । ज्ञान में स्वयं ऐसी सीमा नहीं पड़ी है कि ज्ञान यहाँ तक ही जाने । यह ज्ञान पदार्थ के निकट जा जाकर जानता होता तो उसमें सीमा भी अनुमान में लायी जा सकती थी । जहाँ-जहाँ यह ज्ञान जाता वहाँ-वहाँ का ज्ञान करता, किन्तु ज्ञान में ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान अपनी जगह अपने आधार में रहता हुआ यह जो कुछ सत् है उस सबका ज्ञाता हो जाता है । यों तीन लोक, तीन कालवर्ती का समस्त पदार्थों का परिच्छेदक यह जीव ही है, क्योंकि चेतकता इस जीव में ही पायी जाती है । बाकी के समस्त द्रव्य चूंकि अचेतकता का सामान्यतया उनमें सद्भाव है अत: सभी अचेतन हैं । एक जीव में

ही चेतनता है क्योंकि समस्त जीवों में चेतनत्व पाया जाता है ।

गाथा १२५

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ।।१२५।।

अजीव में जीव की विशेषताओं का अभाव—जिसमें सुख दुःख होना, हित में लगना, अहित क्रियायों से डरना—ये बातें नहीं पायी जातीं श्रमण साधुसंतजन उसे अजीव कहते है । सुख का अनुभवन करना, दुःख का अनुभवन करना, पदार्थ का जानना, हित में प्रवृत्ति करना, अहित से डरना—ये सब बातें जीव में ही दृष्टगत होती हैं । ये ५ बातें जिस पदार्थ में नहीं हैं साधुसंतजन उसे अजीव कहते हैं । अज्ञानी जनों ने तो अपना हित स्त्री पुत्रादिक में चन्दन माला आराम शृङ्गार आदि में समझा है । उसका कारण क्या है? जिसमें अज्ञानी जीव हितरूप समझते हैं ऐसे वैभव के समागमों का कारण क्या है? मूल उत्तर तो पूर्वबद्ध पुण्य का उदय है । दान पूजा आदिक शुभ परिणामों के फल में पुण्य होता है और पुण्य से यह वैभव प्राप्त होता है । अब उन प्राप्त वैभवों का उपयोग करना यह ज्ञानी और अज्ञानी का जुदा-जुदा काम है । अज्ञानी जीव इन वैभवों से अपना हित मानते हैं और ज्ञानी जीव उन वैभवों से अपना हित नहीं मानते ।

हित और अहित का विश्लेषण—ज्ञानी जीव का तो हित अक्षय अनन्त सुख है । वह अविनाशी अनन्त सुख में स्वहित मानता है और उसके कारणभूत है परमात्मद्रव्य । जो निश्चय रत्नत्रय में परिणत है ऐसा यह चैतन्यतत्त्व जो चेतन अपने आपके स्वरूप की रुचि करता है, अपने ही स्वरूप का ज्ञान करता है और अपने ही स्वरूप में परिणमन करता है ऐसा यह चैतन्य पदार्थ ही हितरूप है, शरणभूत है, ऐसा भाव ज्ञानी जीव के रहता है । यहाँ के ये समस्त दुःख ज्ञानी जीव को अहितरूप लग रहे हैं । आकुलता को उत्पन्न करने वाले ये समस्त मोह विभाव ज्ञानी जीव को अहित जंच रहे हैं । उस मोह विभाव का करण है मिथ्यात्व, रागादिक में परिणमा गया बसा हुआ आत्मद्रव्य । इस प्रकार हित क्या है और अहित क्या है, इसकी परीक्षा जीवद्रव्य ही कर सकता है । भले ही कोई जीव अज्ञानवश अहित को हित मान ले, हित को अहित मान ले, किन्तु हित अहित के मानने की कला जीवद्रव्य में ही पायी जाती है ।

जीव और अजीव में भेद—हित और अहित की परीक्षा करने रूप जो एक चैतन्य धर्म है वह

चैतन्य धर्म विशेष अजीव के नहीं पाया जाता है, इस कारण आकाश आदिक सर्व पदार्थ अचेतन हैं । एक जीवद्रव्य ही चेतन है, इस प्रकार लक्षण के भेद से जीव जुदा है, अजीव जुदा है अथवा अजीव में व्यवहार में आने वाला पदार्थ पुद्गल है । तो यहाँ यह ज्ञान कराया गया कि जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है । जुदा होने पर भी आज जीव और पुद्गल का इतना घनिष्ट संयोग है, जीव और पुद्गल का घनिष्ट संयोग होने पर भी उनमें ऐसा स्वरूप बदलता है जो उनका भेद प्रकट कर दे । भेदविज्ञान का कारणभूत स्वरूप अब अगली दो गाथावों में कहा जा रहा है ।

गाथा १२६-१२७

संढाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्बप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ।।१२६।।

अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।१२७।।

संस्थान का आधार—पुद्गल द्रव्य में बहुतसी गुण और पर्यायें हैं, जैसे कि संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द । इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक पर्यायें पुद्गलद्रव्य में हैं । जिनको निरखकर यह निर्णय होता है कि यह पुद्गल द्रव्य है । संस्थान नाम आकार का है । द्वार का आकार, किवाड़ का आकार, शरीर का आकार जो-जो भी पदार्थ लम्बे, चौड़े, मोटे आदिक आकार में दिख रहे हैं ये आकार पुद्गलद्रव्य के धर्म हैं । आकाश का तो कोई आकार है ही नहीं, वह तो असीम है । धर्म, अधर्मद्रव्य का भी आकार नहीं है, किन्तु असंख्यातप्रदेशी अस्तिकाय है तो भी लोकाकाशप्रमाण फैला हुआ है और जो एक पूरा आकार है इसका तो आकार क्या कहा जाय? जो अनादि निधन आकार है, जिसमें न कभी एक प्रदेश की कमी होती है, न कभी एक प्रदेश की बढ़ोतरी होती है । जितने हैं ये धर्म अधर्मद्रव्य वे सब उतने ही रहेंगे । ऐसी जहाँ एकरूपता ही है शाश्वत, उसे आकार क्या कहेंगे? जैसा है तैसा है? । जहाँ परिवर्तन होता है अभी कुछ है, अभी कुछ बना वहाँ आकार की आभा होती है । यों ही कालद्रव्य एकप्रदेशी है, वह भी निराकार है । जीवद्रव्य चित्प्रकाशात्मक है उसका स्वरूप आकार की मुख्यता से नहीं है । वह भावप्रधान तत्त्व है, पर वह चैतन्यप्रकाश चूंकि अस्तिकाय है और इसके साथ अनादि से उपाधि का सम्बंध है, सो उपाधि के भेद से इसमें आकार के भेद हो रहे हैं । जब यह जीव जिस शरीर को ग्रहण करता है उस शरीरप्रमाण इसका आकार हो जाता है । इस जीव में स्वयं अपने आपके गुण के कारण अपने आप में आकार नहीं है और यह आकार जीव का सहजस्वरूप नहीं है । आकार पुद्गल द्रव्य में ही हुआ करता है ।

संघात का उपादान—इसी प्रकार संघात बिछुड़े हुए मिल जाये, एक पिण्डरूप बन जायें, ऐसा संघात होना भी पुद्गल द्रव्य में सम्भव है । जीव-जीव मिलकर पिण्ड नहीं बनते अथवा जीव के साथी अन्य कोई द्रव्य मिलकर पिण्ड नहीं बनते, केवल पुद्गल-पुद्गल ही मिलकर ऐसे पिण्ड बन जाते हैं, एक स्कंध बन जाता है । ऐसा संघात होना यह पुद्गलद्रव्य में ही सम्भव है ।

वर्ण, रस व स्पर्श का आधार—वर्ण काला, पीला, नीला, लाल, सफेद और इनके तीव्र मंद से अनेक भेद और इन रंगों के मेल से बने हुए अनेक प्रकार के वर्ण ये समस्त वर्ण पुद्गल द्रव्य में ही हुआ करते हैं । पुद्गल को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं होता । पुद्गल ही मूर्तिक पदार्थ है । अमूर्त पदार्थ में वर्ण नहीं होता है । इसी प्रकार खट्टा, मीठा, तीखा, कडुवा, कषैला ये ५ प्रकार के रस और इनके तीव्र मंद भेद से ये ही अनेक प्रकार के रस और इन रसों के मेल से बने हुए नाना प्रकार के रस, ये सब पुद्गल में ही सम्भव हैं । यद्यपि इन रसों का जानने वाला जीव है, इसमें रस है, इसका कौन अनुभव करे? इसे समझने वाला जीव है, लेकिन यह जीव केवल समझता है, रस तो उन पुद्गलों में उन पुद्गलों के कारण अपने आप है । रस भी पुद्गलद्रव्य में उत्पन्न हुआ परिणमन है । इसी प्रकार स्पर्श मूल में तो ये चार प्रकार के हैं—स्निग्ध रूक्ष शीत और उष्ण, पर इस परमाणु का जब संघात हो जाय, स्कंधरूप स्थिति बन जाय तो इसमें भारी, लघु, कोमल और कठोर—ये चार परिणमन भी हो जाया करते हैं । ये ८ प्रकार के स्पर्श पुद्गलद्रव्य में ही हैं, अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं हैं ।

गन्ध और शब्द का उपादान—इसी प्रकार यह गंध जो कि सुगंध और दुर्गंध के भेद से २ प्रकार का है, किसी को सुगंध इष्ट है, किसी को दुर्गन्ध इष्ट है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वह इन गंधों में रमण करता है, पर यह गंध तो पुद्गल में ही सम्भव है, इसका जाननहार यह जीव है । यह गंध भी पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न हुआ परिणमन है । इसी प्रकार शब्द यह पुद्गलद्रव्य की गुणपर्याय नहीं है, किन्तु महास्कंध के संघट्टन का निमित्त पाकर भाषावर्गणा जाति के स्कंधों में ध्वनि नामक यह द्रव्य परिणमन होता है । शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण की परिणति नहीं है, किन्तु उन द्रव्यों का ही एक इस प्रकार का परिणमन है । शब्द भी पुद्गलद्रव्य से उत्पन्न हुआ पर्याय है । यह तो जीव और पुद्गल के संयोग में भेदविज्ञान कराने के लिए पुद्गल के परिणमन की बात कही है ।

जीव की अरसादिरूपता—अब जीवतत्त्व की बात कहते हैं । यह जीव रसरहित है । रस गुण

वाला हो तो रस वाला कहा जाय । रस गुणसहित तो पुद्गलद्रव्य ही होता है ।यह आत्मा रस गुण वाला नहीं है और न इसमें रस गुण के कोई परिणमन आते हैं । रस का ग्रहण करने वाली यह पौद्गलिक जिह्वा नाम की द्रव्येन्द्रिय है, लेकिन रहो, यह एक बाह्यसाधनभूत है, परन्तु यह जीव इन्द्रियरूप भी नहीं है और इस जिह्वा द्रव्येन्द्रिय के कारण से जो रसका ज्ञान होता है वह रस का ज्ञान भी जीवस्वरूप नहीं है । वह भावेन्द्रिय रूप ज्ञान भी एक विकारभाव है, अथवा यह रस जैसे परिच्छेद्य होता है, ज्ञेय होता है इसी प्रकार इस द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय से यह आत्मा ज्ञेय नहीं होता है । भले ही यह जीव रस के आस्वादन का परिच्छेदक है, वह क्षायोपशमिक भाव है, भावेन्द्रियरूप है, पर भावेन्द्रियरूप यह जीव नहीं है । यह तो एक शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है तथा भावेन्द्रिय के कारण से यह रस की तरह ज्ञान में भी नहीं आता है । यह तो केवल सत् को ग्रहण करने वाला अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप ज्ञानमात्र है । रस के जाननरूप जो खण्ड ज्ञान है, रस को जाने ऐसा जो इस अखण्ड ज्ञान में एक खण्डपना उत्पन्न होता है वह खण्डपना जीव का स्वरूप नहीं है । यह रस रूप भी नहीं होता ।यह जीव अरस है । इसी प्रकार जीव रूपसहित भी नहीं गंध सहित भी नहीं और शब्द सहित भी नहीं ।

जीव की अव्यक्तता—यह आत्मा अव्यक्त है । पुद्गल की नाईं यह आत्मा ज्ञेय नहीं है, अथवा कभी-कभी यह क्रोधादिक कषायों में व्यक्त हो जाता है । समझ में आने लगता कि इसके क्रोधकषाय जगी है, इसके मान, माया, लोभ कषायें जगी हैं । क्रोधादिक कषायों का समूह भी कभी-कभी व्यक्त होने लगता है । निर्मलस्वरूप की जिन्हें उपलब्धि नही है, ऐसे जीवों की जो मिथ्यात्व रागादिक भावों में परिणति हो रही है ऐसे मन वाले के ये क्रोधादिक कषायें व्यक्त होने का परिणाम होता है । पर यह परमात्मतत्त्व मेरा सहजस्वरूप है, इस तरह व्यक्त नहीं हो पाता है । यह ती स्वसम्वेदन ज्ञानद्वारा अन्तरात्मा पुरुषों को अपने अंत:स्वरूप निर्विकल्प परमसमाधि में व्यक्त होता है । यह आत्मतत्त्व अव्यक्त है ।

जीव की असंस्थानता—इस आत्मा में किसी प्रकार का संस्थान नहीं है । गोल हो, चौरस हो आदिक किसी भी प्रकार के संस्थान इस आत्मा में नहीं हैं । यह अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप है, परमात्मरूप है । यह संस्थान आदिक जो कर्मप्रकृतियों में बताये गये हैं उनके उदय से इस भव में संस्थान होता है । वह एक तो पौद्गलिक कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है दूसरे वह संस्थान रचना पौद्गलिक कर्मो की रचना है । यों यह असंस्थान है ।

जीव का अलिङ्गग्रहणत्व—यह आत्मतत्त्व किसी चिह्न के द्वारा ग्रहण में नहीं आता । जैसे धुवां देखकर हम अग्नि का ज्ञान कर लेते हैं इस तरह कदाचित् हम कषाय आदिक देख-कर इस अशुद्ध आत्मा का ज्ञान तो कर लें, परन्तु जो शुद्ध आत्मा है उसका अनुमान नही बनता । उसका तो या प्रत्यक्ष होगा या कुछ न होगा । जैसे हम एक परोक्ष रूप के ज्ञान से अशुद्ध आत्मा को भाँप लेते हैं, इस प्रकार शुद्ध आत्मा का भाँप परोक्ष ज्ञान से नहीं होता, या तो भांप होगा नहीं या भाँप होगा तो प्रत्यक्ष रूप से होगा । रागादिक विकल्पों से रहित निज के स्वसम्वेदन ज्ञान से प्रकट जो परम आनन्द है उस आनन्द में स्थित उस आनन्द में परिणत हुआ आनन्द रस जल से जो सर्वप्रदेशों में भर गया है, ऐसे परमयोग से ही आत्मा प्रत्यक्ष होता है । यह आत्मा अलिङ्ग ग्रहण है । किसी लिङ्ग के द्वारा इस आत्मा का ज्ञान नहीं होता ।

जीव की चैतन्यस्वरूपता—यह आत्मतत्त्व तो चैतन्यगुण वाला है । समस्त द्रव्यों को, उनकी गुण पर्यायों को भूतकाल, भावीकाल और वर्तमान कोल के समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है वही तो सर्वज्ञ है । ऐसी सर्वज्ञता की शक्ति प्रत्येक संसारी जीव में पायी जाती है । वही शुद्ध चैतन्य है । हम अपने आपके इस चैतन्यस्वरूप को न जानने के कारण अभी तक इस जगजाल में भटकने वाले बन रहें हैं । यह भटकना तो मंजूर हो रहा है, पर ऐसा साहस नहीं किया जा सकता कि किसी क्षण हम समस्त परभावों से भिन्न केवल निज सहज स्वरूपमात्र अपने आपको मान लें, हठ कर ले, एक दृढ़ता बना लें, मैं तो ऐसा एक अमूर्त चैतन्यतत्त्व ही हूँ, सबसे निराला हूँ, ऐसा यह मोही जीव मानने को तैयार नहीं हो पा रहा है, इसी कारण संसार की भटकना बन रही है ।

देहबन्धन—यह जीव कभी मगरमच्छों के थूलमथूला शरीर में बँधकर रहता है, कभी कीड़ा-मकोड़ा पेड़ों के शरीर में बँधकर रहता है । इस जीव की कैसी अवस्था बन रही है? यह अवस्था अज्ञान के कारण है । हम अपने आपको सबसे विभक्त केवल चित्स्वरूपमात्र अनुभव नहीं करते । और यह अनुभव करते हैं कि जो यह देह है सो मैं हूँ । यह देह ठीक रहे तो मैं ठीक हूँ, इस देह का वियोग हो, मरण हो तो यह मेरा मरण है ।

स्वरूपपरिचय के बिना कल्पनाबन्धन—लोग तारीफ करते हैं एक दूसरे की, पर तारीफ करने वाले की दृष्टि उस चैतन्यतत्त्व पर कहाँ रहती है? उनकी दृष्टि इस जड़ विभूति पुद्गल पदार्थों पर रहती है, और यह जीव कल्पना में यह मान लेता कि इसने मेरी स्तुति की है, इसने मेरी प्रशंसा की है । इतना मोह का जाल फैला हुआ है । हम परमात्मा की जाति के हैं, मेरा ऐसा शुद्ध स्वरूप है । जो सिद्ध

भगवान हैं, जो केवल रह गए हैं, उस केवल परमात्मतत्त्व में कहाँ आकुलता है, कहाँ चिंता है, कहाँ रंग है, कहाँ तरंग है? वह तो एक शुद्ध अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द का अनुभव करने वाला है । ऐसी ही शक्ति हम आप सबमें मौजूद है, पर मन के स्वच्छन्द बने हैं, बाह्य पदार्थों में हम ममता बनाये हुए हैं, उनसे ही अपना महत्व मान रहे हैं और इस मोहवासना के ही कारण अपने आपको हम ग्रहण में नहीं ले पाते । अपने में बसा हुआ: जो परम सहज आनन्द है उसके अधिकारी नहीं हो पाते ।

भेदविज्ञान की पूरकता—इस प्रकार जीव और पुद्गल के स्वरूप को जानकर इस आत्मा का वास्तविक भेद हमारे उपयोग में रहना चाहिए । यह सम्यक् प्रकार से मार्ग को सिद्धि के लिए वस्तुस्वरूप का भेद बताया गया है । इस भेदविज्ञान से हम पुद्गल के स्वरूप को त्यागकर अपने स्वरूप में आ सकते हैं और अभेदरूप से एक चेतन का अनुभव कर के हम केवल हो सकते हैं । इसके लिए भेदविज्ञान की प्रथम आवश्यकता है, अतएव जिससे जुदा होना है यहाँ उस अजीव पदार्थ का वर्णन किया गया है ।

गाथा १२८-१२९-१३०

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।१२८।।

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।।१२९।।

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।१३०।।

सप्त पदार्थों का उपोद्घात—जीव पदार्थ और अजीव पदार्थ का वर्णन करने के पश्चात् अब आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप, इन ७ पदार्थों का वर्णन किया जायगा । अब वे ७ पदार्थ, वे ७ परिणमन कैसे उत्पन्न हुए हैं, उनका क्या स्वरूप है, इन सब बातों का वर्णन करने से पहिले जो एक उपोद्घात करना आवश्यक है उस उपोद्घात के लिए इसमें जीव और पुद्गलकर्म इनके चक्र का इन तीन गाथावों में वर्णन किया है ।

संसारी जीव से परिणाम, कर्म और गतिगमन का सकारण उद्गमन—इस संसारीजीव के अनादिबन्धन के उपलब्ध में वशीभूत होने से स्निग्ध परिणाम होता। मोह रागद्वेष का स्रोतभूत अज्ञान परिणाम से मिला हुआ जो कुछ अध्यवसान भाव है उसे स्निग्ध भाव कहते हैं और स्निग्धता में द्वेष भी आ जाता है । मोह रागद्वेष में जो इस जीव का अवसान होता है उसे अध्यवसान भाव कहते हैं । अध्यवसान भाव मोह रागद्वेष से अलग नहीं है, फिर भी मोहरागद्वेष का लक्षण जुदा-जुदा है और उन सबमें एक सादृश्य बनाने वाला बंध का कारणभूत जो एक अज्ञानमय परिणाम है उसे अध्यवसान परिणाम कहते हैं । इसको कुछ और मोटे रूप से खुलासा समझना हो तो यों समझिये—अध्यवसान में २ शब्द हैं—अधि और अवसान अथवा अवसाय । जो अधिक हो, अपने स्वरूप में न हो उस अधिक का भी निश्चय बना लेना, यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार का लगाव रखना इसका नाम है अध्यवसान परिणाम । इस संसारी जीव के यह अध्यवसान परिणाम होता है और उस परिणाम से फिर पुद्गल परिणामात्मक कर्म का बन्धन होता है, और उन कर्मों से फिर गतियों में गमन होता है ।

गतिगमन से देह, इन्द्रिय, विषयग्रहण व रागद्वेष का पूर्वकारणक उद्भवन—यहाँ तक इतनी बात कही गई है । यह है लो संसारो जीव । इससे उठा अध्यवसान परिणाम । उस परिणाम से हुआ पुद्गल कर्म का बन्ध और उस पुद्गल कर्म के बन्ध से उदयकाल में हुआ नरकादिक गतियों में गमन । इसके पश्चात् फिर इतनी बात और समझना कि गतियों में गमन हुआ, उससे मिला देह, और देह से हुई इन्द्रियाँ, और इन्द्रियों से हुआ विषयों का ग्रहण और विषयों के ग्रहण से फिर हुआ रागद्वेष ।

पुनः पुनः चंक्रमण—अब वही चक्कर फिर लगावो । उस रागद्वेष से हुआ कर्मबंध, कर्मबन्ध से हुआ कर्मों के उदय काल में गतियों में गमन, गतियों के गमन से मिला देह, देह से हुई इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से किया विषयों का उपभोग, उससे हुए रागद्वेष । इस प्रकार से यह चक्र इस जीव का अनादिकाल से चल रहा है । यह एक विशिष्ट संयोग परिणाम से हुए निमित्तनैमित्तिक भाव का वर्णन करने वाला उपोद्घात इसलिए करना पड़ा है कि यह बताये बिना पुण्य, पाप, आस्रव आदिक पदार्थों की उत्पत्ति विदित नहीं हो सकती । क्योंकि यदि यह चक्र न हो, जीव और अजीव का परस्पर में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध न हो तो मोक्ष का उपाय करने की आवश्यकता भी क्या?

पदार्थ के पारिणामित्व व अपरिणामित्व के एकान्त में अनिष्ट प्रसंग—प्रथम तो यही बतावो कि अभी मूल में जो दो पदार्थ कहे गए हैं जीव और अजीव ये पदार्थ परिणामी हैं या अपरिणामी हैं?

यदि इन्हें परिणामी मानते हो यह परिणमनशील हैं तो यह परस्पर निमित्त पाकर परिणमन कर रहे हैं या स्वतंत्र होकर निमित्त बिना संयोग बिना केवल अपने आप में परिणमन कर रहे हैं । यदि धर्मादिक द्रव्यों की तरह परउपाधि के बिना अपने आप में ही विषम परिणमन करते हैं तो फिर ७ पदार्थ कुछ नहीं रहे और फिर यह इन्द्रजाल यह मायाजाल फिर कुछ नहीं रहा । व्यवस्था क्लेश ये सब कुछ न रहने चाहिएँ । परस्पर एक दूसरे का उपाधि सम्बंध पाकर यह परिणमा करता है तो जीव और पुद्गल के संयोग परिणमनरूप कुछ बात हुई तो उस ही के आधार पर यह ७ पदार्थों की व्यवस्था बनेगी । यदि अपरिणामी ही मान लो तब दो पदार्थ जुदे-जुदे शुद्ध रह गये, फिर पुण्य पाप आदिक घटेंगे ही नहीं । तो बंध मोक्ष का अभाव होगा ।

कथञ्चित परिणामित्व में व्यवस्था—यह जीव और अजीव पदार्थ अटपट परिणामी नहीं होता । ऐसा भी नहीं है कि जीव और पुद्गल मिल करके परिणामी बन जाये तो जीव और पुद्गल की संयोग रूप कुछ एक चीज बन गई । वहाँ न जीव में कुछ रहा, न अजीव में कुछ रहा, ऐसा एकांत परिणामी भी नहीं है और एकान्त से अपरिणामी भी नहीं है। कथंचित् परिणामी है और कथंचित् अपरिणामी है। दूसरे के परिणमन को ग्रहण नहीं करता, यों तो अपरिणामी है और अपने आपमें परिणमन करता रहता है यों यह परिणामी है। परिणामी का अर्थ है परिणमन करने वाला। अपरिणामी का अर्थ है कुछ भी परिणमन न करने वाला। यों कथंचित् इसे परिणामी मानने पर ही आस्रव बंध आदिक पदार्थों की व्यवस्था बनती है, फिर भी मूल पदार्थ तो ये दो ही रहे—जीव और अजीव।

सप्त पदार्थों में हेयत्व और उपादेयत्व का निर्णय—इन ७ पदार्थों में हेय और उपादेय का निर्णय करना ही इसकी जानकारी का प्रयोजन है। पुण्य और पाप ये दोनों एक संसाररूप हैं इस कारण दोनों ही हेयतत्त्व हैं। उनमें से किसी स्थिति में पुण्यपाप उपादेय है और पापभाव सर्वथा हेय है। कुछ ऊँची भूमिका में पहुंचने पर इस जीव के कर्तव्य में फिर दोनों के ही दोनों भाव हेय तत्त्व हो जाते हैं। आस्रव और बंध ये दोनों हेय तत्त्व हैं। आस्रव का अर्थ है कर्मों का आना और बंध का अर्थ है उन कर्मों की स्थिति पड़ जाना। ये दोनों ही हेयतत्त्व हैं, संवर और निर्जरा ये उपादेय तत्त्व हैं, कर्मों का निरोध हो जाना सो सम्वर है और पूर्वबद्ध कर्मों का छोड़ना सो निर्जरा है। इस प्रकार सम्वर और निर्जरा ये जीव के परमकल्याण के कारणभूत हैं, अतएव उपादेय तत्त्व हैं। और मोक्ष तो सर्वप्रकार उपादेय तत्त्व है, वह तो समस्त मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ का अन्तिम फल है।

संवरभाव का महत्त्व—एक विशेष बात यह भी समझिये कि मोक्ष हो जाने पर पुण्य नहीं रहता,

पाप नहीं रहता, आस्रव नहीं है, बंध नहीं है और निर्जरा भी नहीं रहती, किन्तु सम्वर सदाकाल बना रहता है। सम्वरभाव मायने शुद्धोपयोग भाव। जिस भाव के कारण कर्म न आयें उसका नाम सम्वर है। क्या सिद्ध भगवान में इस सम्वर का अभाव है? यदि अभाव है तो अर्थ यह है कि कर्म आने लगे। इस कारण यह सम्वर तत्त्व कितना सारभूत और उपादेय है, जो सदा रहता है, शुद्धोपयोग होने के बाद भी रहता है। हाँ इस दृष्टि से देखो कि कर्म आने की गुंजाइश थी, ऐसी योग्यता वाले जीव के और कर्म न आ सकें उसका नाम सम्वर है तो ऐसे सीमित लक्षण में देखने पर सम्वर न भी माना जाय, पर सम्वर का मूल से काम यह है कि कर्म न आने देना। शुद्धोपयोग का दृढ़ दुर्ग पाकर यह आत्मा सर्वप्रकार की शंकावों से रहित रहता है। यों इन सात पदार्थों में हेयतत्त्व और उपादेयतत्त्व समझना।

हेयतत्त्व—अब सामान्यतया यों निरखिये कि दु:ख हेयतत्त्व है। संसार का कोई भी जीव दु:ख नहीं चाहता है। उसका कारण है संसार। दु:ख क्यों मिलता है? यह संसरण चल रहा है। यह संसारभाव है, इसके कारण दु:ख प्राप्त होता है। संसार का कारण है आस्रव और बंध पदार्थ, और आस्रव और बन्ध इन दोनों का कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। यह तो हुई हेय व्यवस्था । जैसे कहते हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: । ऐसे ही कह लीजिए—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि संसारमार्ग: । संसार के कारण ये मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं । तब हम शीघ्र दृष्टि डालें कि मेरा हेय क्या है? तो यों कह लीजिए कि अपने आत्मस्वरूप को छोड़कर अन्य परभावों में पर में आत्मा की प्रतीति करना यह भाव हेय है और इस ही पद्धति से पर का ज्ञान करते रहना यह हेय है और पर को सुख का हेतु मानकर उसमें रमण करना यह हेय है अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये हेय हैं ।

उपादेय तत्त्व—उपादेय तत्त्व को निरखिये—सुख उपादेय तत्त्व है । तुम्हें क्या चाहिए? उत्तर मिलेगा सुख, शान्ति । प्रत्येक जीव सुख चाहता है, और जितने भी यह प्रयत्न करता है वह सब सुख पाने के लिए ही करता है । चाहे कभी इसकी समझ में यह भी आये कि प्राण दे देने से सुख मिलेगा तो वहाँ प्राण भी दे देता है । प्राणघात कर देना भी अपने सुख के लिए समझा है । मरण कर के भी यह सुख चाहता है । समस्त प्रवृत्तियों का प्रयोजन इसका सुख प्राप्त करता है । तब उपादेय तत्त्व हुआ सुख । उसका कारण है मोक्ष । मोक्ष का कारण है सम्वर और निर्जरा । सम्वर निर्जरा के कारण हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । आत्मा का जैसा अपने सत्व के कारण सहज स्वरूप है अमूर्त स्वयं ज्ञान-ज्योतिर्मय जैसा इसका स्वरूप है उस स्वरूप रूप अपनी प्रतीति करना, ऐसा ही

ज्ञान करना और इस ही रूप रमण करना यह है उपादेयतत्त्व । इस प्रकार दो मूल पदार्थ हैं—जीव और अजीव, और उनके संयोग से उत्पन्न हुए अथवा उनके प्रसंग से उत्पन्न हुए ये ७ पदार्थ हैं । यों मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत श्रद्धान करने योग्य ९ पदार्थ बताये गए हैं ।

भावनाओं में एकत्वभावना की तरह तत्त्वों में संवरतत्त्व की प्रमुखता—जैसे बारह भावनाओं में एकत्वभावना का बड़ा प्रमुख स्थान है और उस एकत्वभावना का बहुत कुछ अन्त:मर्म चलता रहता है । कभी माना दुनिया के इन परिवारों से जुदा होने के लिए—मैं तो अकेला हूँ, मेरा यहाँ कोई साथी नहीं है, फिर इस देह से भी जुदा समझने के लिए माना कि मैं तो यह एक अकेला हूँ, यह देह भी मेरा नहीं । फिर अन्त: जो विकल्प पिण्ड बना हुआ है उसमें भी इन विकल्पों से अपने को जुदा करने के लिए माना कि मैं तो एक अकेला हूँ, इन विकल्पोंरूप भी मैं नहीं हूँ । फिर अपने आप में जो ज्ञान धारायें बहती हैं, ज्ञानपरिणमन चलता है वह चूँकि अनित्य है, क्षणिक है, पर्यायरूप हैं, वहाँ भी जुदा शाश्वत अपने स्वरूप को समझने के लिए माना जाता है कि मैं केवल शुद्ध ज्ञानशक्ति मात्र हूँ । इस एकत्वभावना का बहुत अंत: विस्तार है, उपयोग है । ऐसे ही जानिये—इन ९ पदार्थों में सम्वर की बड़ी प्रमुखता है ।

संवरभाव की अनन्तता—सम्वर दो प्रकार के होते हैं—एक जीव सम्वर और एक अजीव सम्वर । जीव सम्वर नाम है शुद्धोपयोग का । रागद्वेषरहित शुद्ध चैतन्य की अवस्था बनाये रहना इसका नाम है शुद्धोपयोग । यही है साक्षात् जीव सम्वर, जिस विशुद्ध स्थिति के कारण कर्मरूप परिणमन नहीं होता उस जीव के साथ कर्मबन्ध नहीं होता । कर्मों को रोकने वाला परिणाम है तो जीव का यह शुद्धोपयोग है । इसी का नाम सम्वर भाव है । इस शुद्धोपयोग का, इस सम्वरभाव का यदि कदाचित् विनाश हो जाय तो इसका अर्थ है अशुद्धोपयोग बन गया और अशुद्ध उपयोग बना तो कर्म बन्धन होने लगा । इन सिद्ध भगवान का सदा के लिए कर्मों का आना बन्द हुआ है या कुछ समय के लिए कर्मों का आना बन्द हुआ है? सदा के लिए कर्मों का आना बन्द है तो समझना चाहिए कि कर्मों को न आने देने में समर्थ जो एक संवर परिणाम है, शुद्धोपयोग है वह सदाकाल रहता है ।

नव पदार्थों में मूल आधार—नव पदार्थों में हम आपको उपादेयभूत संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन पदार्थ कहे गए हैं । अब ये ७ पदार्थ किसके आधार से निकले हैं? उस बीजभूत पदार्थ पर दृष्टि दे तो यही तो विदित होगा कि ये जीव और अजीव (पुद्गल) इनके संयोग परिणाम से बने हैं, सो इन ७ पदार्थों के ये दो मूल कारण हैं । यदि आस्रव, बंध न होते तो संवर निर्जरा की क्या जरूरत

थी? इस दृष्टि से जीव और पुद्गल के वियोग होने पर भी जो संवर और निर्जरा तत्त्व की बात कही गई है उसका भी सम्बन्ध जीव और पुद्गल के संयोग पर आधारित है ।

संसारचक्र—इस तरह इन तीन गाथाओं में यह बताया है कि यह जो संसारी जीव है उससे हुए परिणाम, परिणामों से हुआ नवीन कर्मबन्ध, उन कर्मो के उदय से हुआ गतियों में गमन, गतियों में प्राप्त होने पर हुआ देह, देह से हुई इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से हुआ विषयों का उपभोग, विषयोपभोग से हुए रागद्वेष, इस प्रकार संसारचक्र में पड़े हुए इस जीव का परिभ्रमण हो रहा है यह संसार चक्र जाल अनादिनिधन है अथवा किसी जीव के अनादि सन्निघन है । किसी का यह चक्र समाप्त भी हो जाता है और किसी का यह चक्र समाप्त भी नहीं होता । अभव्यजीवों के या दूरातिदूर भव्य जीवों के यह संसारचक्र समाप्त नहीं होता है । निकटभव्य जीवों का, यह संसारचक्र समाप्त हो जाता है ।

स्वभाव और औपाधिकता—यद्यपि शुद्धनय से देखा जाय तो यह जीव विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव वाला है, फिर भी व्यवहार से अनादि कर्मबंध के वश होने से इसमें आत्मा को किसी न किसी रूप में संवेदन करने रूप अशुद्ध परिणाम होता है । उस परिणाम से कर्मबंध हुआ जो कि आत्मा के ज्ञानादिक गुणो का आवरण करने में निमित्त है । फिर उन कर्मोदय से चारों गतियों में गमन हुआ । ये चारों गतियाँ आत्मा की शुद्धस्थिति से, शुद्धगति से, सिद्धगति से अथवा आत्मा की उपलब्धि से अत्यन्त विलक्षण हैं, विभिन्न हैं । ऐसा ४ गतियों में गमन हुआ और फिर उन गतियों में गमन होने से इसे देह मिला ।

निर्बन्धता व सबन्धता—देखो भैया कहाँ तो यह जीव शरीररहित स्वरूप वाला था, एक चिदानन्द शुद्ध ज्ञायकस्वभावी था और कहाँ उस स्थिति से अत्यन्त विपरीत यह देह प्राप्त हुई । इस जड़ पौद्गलिक शरीर के बन्धन में बंध गया । अब इस देह से इसे इन्द्रियां उत्पन्न हुई । आत्मा का तो स्वरूप अतीन्द्रिय है, अमूर्त है, परमात्मतत्त्वरूप है और ये ज्ञान के साधन और सुख के साधनभूत ये इन्द्रियाँ जड़ पौद्गलिक हुई हैं । कितना विरुद्ध ये इन्द्रियाँ हैं । ये इन्द्रियाँ भी इसमें उत्पन्न हुईं, फिर उन इन्द्रियों से इसने पंचेन्द्रिय के विषयसुखों में परिणमन किया । कहाँ तो आत्मा का एक सहज आनन्दस्वभाव है, एक शुद्ध आत्मतत्त्व के ध्यान से जो एक झलक आती है उस परम आनन्द का स्वरूप इस जीव का है और उस स्वरूप से कितना अत्यन्त विपरीत यह विषयों का उपभोगरूप इसे सुखपरिणमन मिला है? उस सुखपरिणमन से इसके रागद्वेष होने लगते हैं । रागद्वेष जीव का स्वभाव नहीं है । रागद्वेषरहित अनन्त ज्ञानादिक गुणों का धाम यह आत्मतत्व है । यह अपने आप में सहजज्ञान

और आनन्द का भोक्ता रहे ऐसा इसका स्वरूप है । लेकिन ये रागद्वेष इस जीव के इस प्रकार चक्रवाल में उत्पन्न हुए हैं । अब रागद्वेष हुए, सो वही का वही चक्रवाल फिर लगा लीजिए । जैसे रहट की घड़ियां ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर आती रहती हैं, उनका काम चक्कर लगाना है इसी प्रकार से यह सब चक्र ऐसा विलक्षण चक्र है कि सबके सब एक साथ घूम रहे हैं ।

पदार्थों के अपरिहृतस्वभावता पर दृष्टि—इस अशुद्ध आत्मा के अशुद्ध वर्णन को सुनकर, इस अशुद्ध प्रक्रिया को जानकर हमें यह साहस बनाना चाहिए कि इतना होने पर भी कोई भी पदार्थ अपने सहजस्वरूप का परित्याग नहीं करता है । यह वस्तु का स्वरूप है । कितना भी संयोग कितनी भी गड़बड़ियाँ हो जाने पर भी प्रत्येक वस्तु अपने रूप ही रहा करती है । तो इतनी विशेष अशुद्धता में भी हम अपने अंत:विराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की भावना बनायें और रागादिक विकल्पों का परिहार करें । सर्व से भिन्न एक इस शुद्ध चित्स्वभाव पर अपनी दृष्टि लायें, यही प्रयत्न मोक्षमार्ग का बीजभूत है ।

गाथा १३१

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।।१३१।।

पुण्यपापपदार्थ का व्याख्यान—नव पदार्थाधिकार में जीव और अजीव का वर्णन करके ७ पदार्थों के वर्णन करने के लिए एक आवश्यक भूमि तैयार करके अब पुण्य पदार्थ का व्याख्यान करते हैं । जिसके भाव में मोह और परद्रव्यों से प्रीति अप्रीति और चित्त की प्रसन्नता रहती है, उस जीव के शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं । इस गाथा में पुण्य और पाप, इन दोनों पदार्थों पर कुछ निर्देश किया जाता है । मोह, राग, द्वेष व चित्त की प्रसन्नता—इन चार प्रकार के परिणामों को बताकर पुण्य और पाप भाव भी बता दिये गए हैं।

मोहपरिणाम—दर्शन मोहनीय के उदय से जो कलुषित परिणाम होता है उसे मोह कहते हैं । यह मिथ्यात्वभाव तो सर्वप्रकार से पापरूप ही है, इसमें पुण्य की बात रंच भी नहीं आती । जहाँ गहन अज्ञान भरा हुआ है, परपदार्थों में यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार की वृत्ति जगी हुई है वह मोहपरिणाम तो केवल पापरूप है और यह इस आत्मप्रभु पर महान कलंक है । एक मिथ्यात्व भाव

न हो फिर काहे का दुःख? यह जीव जिस-जिस भव में गया है उस-उस भव में मिले हुए समागमों में मोहपरिणाम ही करता रहा । उस मोहपरिणाम से इसे सिद्धि तो कुछ नहीं मिली, बल्कि यह जन्म जन्मान्तरों में दुःख पाने का और अपना भवितव्य निश्चित कर लेता चला आया है । आज जो कुछ पाया होगा यह कितनी सी विभूति है? राजा सम्राट होकर अथवा इन्द्र होकर कितने प्रकार के ठाठ पाये होंगे, उनके समक्ष आज की पाई हुई विभूति क्या है? लेकिन जिसको यह ही सर्वस्व दिख रही है उसके इस मोह और अज्ञान परिणाम के लिए क्या कहा जाय?

सत्संग के दुरुपयोग पर विषाद—इस अज्ञानी जीव की श्रद्धा सही नहीं है, और जिस जीव की श्रद्धा सही नहीं है वह कहीं चला जाय, उसका दुःख नहीं मिट सकता । जिस जीव की श्रद्धा सही नहीं है वह कुछ भी पा ले, शान्ति नहीं पा सकता । अब कितना दुर्लभ जीवन पाया है, वीतराग सर्वज्ञ की वाणी सुनने में आयी, वीतराग सर्वज्ञ के स्वरूप का स्मरण करने का अवसर मिला और वीतरागता के चाहने वाले गुरुवों का, श्रावकों का संग मिला, कितना उत्तम संग है हम आप सबका, तिस पर भी विषयवासना और मोहवासना में ही अपना उपयोग लगाये रहे, तब बतलावो इससे बढ़कर और विषाद की बात क्या होगी? जब कि यह बात है कि बाहरी चीजों का समागम आपके विकल्पों के आधार पर नहीं होता है ।

मोहविडम्बना—भैया ! आप कुछ सोचें, जैसा होना है, जैसा उदय है वह होता है ।जो बात अपने अधीन नहीं उसकी ओर इतना भाग रहे हैं और जो बात तत्काल आनन्द दे, स्वाधीन है, सारे संकटों को टाल दे ऐसी आत्मदृष्टि की बात, प्रभुस्वरूप की भक्ति की बात इसे कठिन लग रही है । इन बाह्यपदार्थों की मूर्छा, अन्याय ये कोई शरण नहीं हैं । इस जीव को यह जीव ही शरण है जब कि वह शरण के ढंग का अपना ज्ञान बनाये । यह मोहपरिणाम, यह अशुभ परिणाम, राग और द्वेष-ये नाना प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय से हुआ करते हैं। किसी पदार्थ में प्रीति का परिणाम होना, किसी पदार्थ में अप्रीति का परिणाम होना यही है राग और द्वेष।

राग द्वेष की मत्तता—रागद्वेष परिणमन भी एक पागलपन है । जब यह जीव सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र है, इसका सब कुछ कर्तव्य अपने आपके गुणों में है, अपने गुण और प्रदेश के पुञ्ज से बाहर कहीं रहता नहीं है तब बाह्यपदार्थों में से किसी को इष्ट मान लेना और किसी को अनिष्ट मान लेना, यह भी अज्ञानता की बात है या नहीं? इष्ट पदार्थों में राग करना और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करना, यह पुण्य और पाप के बंध का कारण होता है । जगत में कुछ भी पदार्थ इष्ट नहीं हैं और

न कुछ भी अनिष्ट हैं । जीव में जिस प्रकार का कषाय भाव जगता है उस कषायभाव की पूर्ति में जो बाह्यपदार्थ निमित्त होने लगते हैं, आश्रय बनते हैं उन्हें तो यह जीव इष्ट मानता है और कषायभाव की पूर्ति में जो साधक नहीं प्रत्युत बाधक नजर आता है उसे अनिष्ट मान लेता है ।

पुण्य और पाप—नाना प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय का निमित्त पाकर जो राग और द्वेष का परिणाम है वह पुण्य और पाप का आधार है अथवा वही पुण्य और पाप है । पुण्य दो प्रकार के होते हैं—एक जीवपुण्य और एक अजीवपुण्य । पाप भी दो प्रकार के हैं—एक जीवपाप और एक अजीवपाप । जीव में जो शुभ और अशुभ परिणाम है वह तो जीवपुण्य और जीवपाप है, इसका निमित्त पाकर जो पुद्गलकर्म का बन्ध हुआ है अथवा जो पुण्य प्रकृति है वह तो है अजीवपुण्य और जो पाप प्रकृति है वह है अजीवपाप । इस गाथा में जीवपुण्य और जीवपाप का वर्णन है । राग और द्वेष परिणाम करना यह है पुण्य और पाप । राग और द्वेष में द्वेष तो नियम से पाप ही है । द्वेष में पुण्य नहीं होता । कहीं ऐसा द्वैत नहीं है कि यह द्वेष पुण्य है और यह द्वेष पाप है । कभी यह शंका की जा सकती है कि किसी का हित करने के लिए जो कुछ गुस्सा की जाती है, कुछ द्वेष किया जाता है वह तो पुण्य हो जायगा । सुनिये—हित का आशय रखने वाले के तो द्वेष परिणाम जगता ही नहीं है और मान लो किसी के हृदय में कुछ द्वेष परिणाम बन जाय तो जितने अंश में द्वेष जगा है वह तो पापपरिणाम ही है । हाँ रागपरिणाम में २ भेद हैं । जो शुभ राग है वह तो पुण्य है और जो अशुभ राग है यह पाप है ।

चित्तप्रसाद—रागद्वेष का मंद उदय होने पर अर्थात् चारित्र मोहनीय नामक प्रकृति का मंद उदय होने पर जो आत्मा में कुछ विशुद्ध परिणमन होता है और इस ही कारण चित्त में जो प्रसन्नता रहती है वह है चित्तप्रसाद परिणाम । चित्तप्रसाद परिणाम भी शुभपरिणाम है । कभी कोई दुष्ट किसी का बिगाड़ होने पर जो खुश रहता है वह चित्तप्रसाद नही कहलाता । प्रसाद का अर्थ खुश होना नहीं है किन्तु निर्मल होना है । शरदऋतु में नदी प्रसन्न हो जाती हैं, तालाब प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात् निर्मल हो जाते हैं । प्रसाद का अर्थ निर्मलता है । चित्त में विशुद्ध परिणाम होने का नाम है चित्तप्रसाद । चित्तप्रसाद का परिणाम शुभभाव है, पुण्यरूप है । यह भाव जिस जीव के होता है उसका नियम से शुभ परिणाम होता है । शुभ परिणाम है पुण्यभाव ।

मोह पाप—मोह प्रकटरूप से पाप है, द्वेष प्रकटरूप से पाप है और अशुभ राग पाप है । शेष सभी राग और चित्प्रसाद ये दो पुण्यभाव हैं । इस प्रकार पुण्य पाप पदार्थो के वर्णन करते समय कुछ

पुण्य पाप के स्वरूप की भूमिका का दर्शन किया है । जिस काल में जीव के मोहपरिणाम होता है उस समय जीव की क्या स्थिति होती है और पुद्गलकर्म की क्या स्थिति होती है? जीव तो निश्चय शुद्ध आत्मतत्त्व की रुचि से कोशों दूर रहता है । उसे अपने आत्मा के स्वरूप का कुछ भान ही नहीं है, उस दिशा की ओर गमन भी नहीं । साथ ही व्यवहार रत्नत्रय की भी रुचि से वह रहित रहता है । जिसके गहल मोहपरिणाम है उसे व्यवहार रत्नत्रय के पालन की भी रुचि नहीं रहती है । हां कोई मंद मोह वाले साधुजन व्यवहार रत्नत्रय का कदाचित् पालन करते हैं, फिर भी निश्चयरत्नत्रय की रुचि उनके अन्दर नहीं है, अथवा यों कहो कि निश्चयरत्नत्रय के लक्ष्य के बिना जो कुछ भी रत्नत्रय के नाम पर किया जा रहा है वह व्यवहाररत्नत्रय भी नहीं है, ऐसी जीव की स्थिति है । यह तो बताया है शून्यता की बात । विपरीत अभिप्राय का परिणाम मेरा नहीं है । हित को अहित मानना, अहित को हित मानना, अपने को पराया मानना अथवा सुध भी न होना और पर को अपना मानना—ये सारे विपरीत आशय इस मिथ्यात्व अवस्था में हुआ करते हैं । यह है जीव की परिस्थिति मोह के प्रसंग में उस समय पुद्गल कर्म की स्थिति कैसी रहती है जिसको निमित्तमात्र पाकर जीव का विपरीत आशय बना रहता है? वहाँ है मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय प्रकृति का उदय।

मोहबल—यह सारी विभाव सेना और सारी पौद्गलिक कर्मसेना उस मोह राजा के बूते ही जीवित है । मोह के नष्ट होने पर धीरे-धीरे समस्त, विभावों की सेना नष्ट होने लगती है, यह तो है मोहपरिणाम की घटना । अब रागद्वेष कैसे बनते हैं, इसकी बात सुनो । ये नाना प्रकार के चारित्र मोह हैं । इन प्रकृतियों की अपेक्षा से कोई चारित्रमोह सम्यक्त्व को प्रकट नहीं होने देते, कोई चारित्रमोह सम्यक्त्व में तो बाधा नहीं डाल पाते, किन्तु श्रावक का व्रत नहीं होने देते । कोई चारित्रमोह देशव्रत तक तो कुछ बाधा नहीं डालते, किन्तु मुनिव्रत नहीं होने देते और कोई चारित्रमोह इसे अकषाय नहीं बनने देते । इससे यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं हो सकता । ऐसी प्रकृतियों के भेद से नाना प्रकार के चारित्रमोह हैं और फिर उनमें नाना प्रकार की तीव्र मंद की प्रकृतियाँ पड़ी हुई हैं । चारित्र मोहों के उदय होने पर इस जीव की क्या स्थिति होती है सो देखिये । निश्चयचारित्र से वीतराग चारित्र से यह जीव रहित रहता है और व्यवहार व्रत आदिक परिणाम भी इसके नहीं हो पाते । जिसके जिस प्रकार के चारित्र मोह का उदय है उसके उस प्रकार के अव्रत परिणाम रहा करते हैं । तब इसकी स्थिति क्या रहती है? इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयो में द्वेष जंचता है, और इस ही मोह के मंद उदय होने पर चित्त में जो एक विशुद्धि होती है वह है चित्तप्रसाद ।

पुण्य पाप का विवरण—इस गाथा में ४ बातें कही गईं हैं, उन चार की जगह आप ५ समझ

लीजिए—मोह, अशुभ राग, शुभराग द्वेष और चित्तप्रसाद । इनमें से मोह, शुभराग और द्वेष ये तीन प्रकार के भाव तो पापपरिणाम हैं और शुभराग दान, पूजा, व्रत, शील, संयम, तपश्चरण आदिक में जो अनुराग जंचता है वह है शुभराग । और चित्त में जो एक विशुद्ध परिणाम जगता है, प्रसाद जगता है वह है चित्तप्रसाद । यों शुभराग और चित्प्रसाद ये तो हैं पुण्य भाव, शेष विभाव पापभाव हैं ।

गाथा १३२

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ।।१३२।।

पुण्य पाप का विभाग—पूर्व गाथा में पुण्यपाप स्वरूप की भूमिका में कुछ परिणाम बताये गए थे, उन परिणामों में तात्पर्य रूप से विभाग कर रहे हैं । जीव के जो शुभ परिणाम हैं वे तो पुण्य भाव हैं और जो अशुभ परिणाम हैं वे पापभाव हैं । इन दोनों शुभ अशुभ परिणामों का निमित्त पाकर जो द्रव्य पिण्डरूप ज्ञानावरणादिक रूप परिणमन है वह भी शुभ और अशुभ कर्मों की अवस्था से प्राप्त होता है । इस गाथा में चार चीजों पर प्रकाश डाला है—जीवपुण्य, जीवपाप, अजीवपुण्य और अजीवपाप । इस जीव के जो शुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य पुण्य के निमित्तमात्र हैं अर्थात् नवीन पुण्य कर्मबन्ध जो हो रहा है उसका निमित्त जीव का यह शुभ परिणाम है, यह कारणीभूत है, इसके आस्रव के क्षण से ऊपर यह भावपुण्य हो जाता है अर्थात् भावपुण्य द्रव्यकर्मों के आस्रव का कारणभूत है वह शुभ परिणाम भावपुण्य है ।

भावपुण्य व द्रव्यपुण्य में निमित्तनैमित्तिकता—यहाँ भावपुण्य व द्रव्यपुण्य के निमित्तनैमित्तिक प्रसंग में समझ में पहिले और पीछेपन समझना । समय की अपेक्षा नहीं । जीव के शुभ परिणामों का निमित्त पाकर द्रव्यपुण्य बनता है । तो यह बतलावो कि पहिले जीव का शुभपरिणाम हुआ या पहिले पुण्य कर्म का बन्ध हुआ? निमित्त तो जीव का शुभ परिणाम है और कार्य है पुण्यकर्म का बन्ध । ये दोनों एक साथ होते हैं, पर जहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव निरखा जाता है, निमित्त पहिले आता है नैमित्तिक का नम्बर बाद में आता है, यह क्रम केवल समझ में है । समय में यह क्रम नहीं है । जैसे दीपक जलाया, प्रकाश फैल गया, अब बतलावो कि प्रकाश का निमित्त क्या है? दीपक । यों तो नहीं कोई बोला करता कि दीपक का निमित्त प्रकाश है । प्रकाश से दीपक पैदा होता है यों कोई नहीं कहता । दीपक से प्रकाश पैदा होता है अब यह बतलावो कि पहिले दीपक है या प्रकाश? दोनों एक

साथ हैं, पर समझ में दीपक पहिले है प्रकाश बाद में है, यों समझो कि यह शुभ परिणाम नवीन द्रव्य पुण्यबंध का कारण है । इसी प्रकार जीव में जो अशुभ परिणाम होता है वह द्रव्य पाप का निमित्त है । तो द्रव्यपाप का कारण होने से द्रव्य पाप के आस्रव से पहिले यह अशुभ परिणाम हो गया, भावपाप हो गया । यह भी समझ का पहिलापन है ।

जीवपुण्य का आधार—जिस काल में जीव के पुण्य अथवा पापभाव होता है उस ही काल में कर्म में पुण्य अथवा पापरूप परिणमन हो जाता है । यह जीवपुण्य और जीवपाप का लक्षण कहा है । जो जीव के शुभ परिणामों के निमित्त से हुआ है अथवा जो जीव के नवीन शुभ परिणामों का निमित्तभूत है, ऐसा यह जो पुण्य प्रकृतिरूप परिणमन है वह द्रव्य पुण्य है । इसी प्रकार इस पुद्गल में जो इस ही प्रकार से ऐसा विशेष प्रकृतिरूप परिणमन है, जो अशुभ परिणाम से उत्पन्न हुआ अथवा जो अशुभ परिणामों के उत्पन्न होने का कारणभूत है वह द्रव्य पाप है । यों पुण्य पाप पदार्थ के स्वरूप बनने के प्रकरण में यह बात बता दी गई है कि तुम जीव पदार्थ को जीव में देखो ।

शुभ अशुभ त्रिविध उपयोगों का स्थान—जीव में जो शुभ राग होता है विशुद्ध परिणाम होता है दान आदि का भाव, शीलपालन का भाव, पूजा भक्ति का परिणाम, व्रत तपस्या का परिणाम, परोपकार का भाव—ये सब जीवपुण्य हैं, और जो जीव में क्रूर परिणाम होता है—पांचों प्रकार के पापों में प्रवृत्त होना, व्यसनों में फंसे रहना, दगा देना, तृष्णा बढ़ाना, अहंकार में डूबे रहना, गुस्सा से अपने को बरबाद किए रहना, ये सारी प्रवृत्तियाँ ये जीवपाप हैं । निश्चय से तो जीव पुण्यभाव और जीव पापभाव ये दोनों संसार में रोके रखने वाले हैं, फिर भी जो जीव अनादिकाल से विपत्तियों में फंसा हुआ है, कर्म और शरीर के बन्धन में जकड़ा है, इन्द्रियों द्वारा उपभोग कर-करके यह अपने को कृतकृत्यसा मानता है, ऐसे जीव को पहिली अवस्था में जीव पुण्य भाव का एक सहारा होता है । आखिर शुभ परिणाम भी अशुभ परिणाम की अपेक्षा से पवित्र भाव ही है । अशुभ परिणाम के बाद किसी भी जीव को शुद्धोपयोग नहीं होता, न कभी हो सकता । जिस जीव के शुद्धोपयोग जगा है उसे से पहिले उसका शुभ परिणाम हुआ है । तो' शुभोपयोग पूर्वक तो शुद्धोपयोग होता है, किन्तु अशुभोपयोग पूर्वक शुद्धोपयोग नहीं होता । इस प्रकार की दृष्टि से भी यह शुभ परिणाम उपादेय है ।

शुद्ध उपयोग का स्थान—एक शुद्ध अन्तस्तत्त्व का परिचय अनुभव करने वाले जीव की दृष्टि में यह शुभ परिणाम भी हेय है और अशुभ परिणाम भी हेय है । हम आपका कर्तव्य है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप का लक्ष्य रखकर अशुभ परिणाम से तो दूर हों और शुभ परिणाम में रहें और कोशिश

यह करें कि हमें शुद्ध दृष्टि स्थिरता से प्राप्त हो । यों शुद्ध तत्त्व की और अभिमुख होकर शुभ परिणाम से भी निवृत्त हो लें । ऐसी प्रक्रिया की अन्त: पद्धति हम आप सबकी होनी चाहिए ।

गाथा १३३

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं ।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ।।१३३।।

कर्म की मूर्तिकता—इस गाथा में कर्मों को मूर्तिक सिद्ध किया है । जिस शरण से ज्ञानावरणादिक ८ कर्मों का सुख दुःखरूप फल सुख दुःख को उत्पन्न करने वाले इष्ट अनिष्ट रूप मूर्तिक स्कंध विषय को मूर्तिक इन्द्रिय के द्वारा इस जीव के द्वारा भोगे जाने से प्राप्त होता है, इस कारण ज्ञानावरणादिक कर्म मूर्तिक हैं, इस बात को अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर रहे हैं । कर्मों के फल भूत सुख दुःख के कारणभूत विषय, वे मूर्तिक पदार्थ मूर्तिक इन्द्रिय के द्वारा ही भोगे जोते हैं । इससे यह अनुमान है, अनुमान प्रमाण से निश्चित है कि कर्म मूर्तिक होते हैं । इसे यों समझिये कि यदि कर्म मूर्तिक न हों तो उनका फल भूत मूर्तिक इन्द्रियविषय का फल भोगने में नहीं आता ।

मूर्तकर्मफल—जो कुछ फल भोगने में आता है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये पाँचों विषय पौद्गलिक हैं । ये पुद्गलस्कंध भोगने में आते हैं, इतना तो सब लोग जानते ही हैं । रसना के द्वारा रस भोगने में आता, स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा स्पर्श भोगने में आता, घ्राण के द्वारा गंध, चक्षु के द्वारा रूप और कर्ण के द्वारा शब्द, ये पाँचों ही विषयभूत पुदगल के परिणमन हैं । तो पुद्गल के परिणमन अर्थात् मूर्त परिणमन भोगने में आते हैं तो क्यों आ रहे हैं, इसका जो निमित्त कारण है वह भी पौद्गलिक है, मूर्तिक है । अमूर्त से मूर्त फल नहीं भोगा जा सकता । मूर्तिक कर्म मूर्तिक के सम्बन्ध से अनुभूत होते हैं इस कारण ये कर्म मूर्तिक हैं ।

कर्मफल की अहितता—देखिये कर्मों का फल क्या मिला? इन पुद्गलों का इष्ट अथवा अनिष्ट भोग करना पड़ा । नरकगति में नारकी जीवों को लोहे की ताती पुतलियों से चिपकाया जाता । वह भी स्पर्शनइन्द्रिय का भोग है, वह अनिष्ट है । यहाँ मनुष्य, देव, तिर्यञ्च अपनी स्त्री में आसक्त होते हैं यह उनका इष्ट भोग है । नरकों में गर्म लोहरस, ताँबारस पिलाया जाता है, यह रसनाइन्द्रिय का भोग है और यहाँ नाना व्यञ्जन बनाकर खाया करते हैं तो कोई इष्ट भोग, कोई अनिष्ट भोग हैं, आखिर

पुद्गलकर्म के फल में पुद्गल को ही तो भोगते हैं संसारी जीव पौद्गलिक इन्द्रियों द्वारा।

विषम कार्यों की परापेक्षता—जितने विषम कार्य होते हैं उनमें कोई दूसरा कारण अवश्य होता है । जो बात घट-बढ़ होती है उसमें कोई दूसरा कारण होता है । स्वरूपदृष्टि से पदार्थ तो एक रूप ही रहेगा । कोई पदार्थ विभिन्नरूप परिणमता है तो यह निश्चित है कि उसमें दूसरा कोई साथ लगा है । दूसरा पदार्थ साथ न हो तो केवल कोई भी पदार्थ एक रूप स्वभावरूप परिणमेगा । इन्द्रिय के द्वारा, इन पौद्गलिक इन्द्रियों के द्वारा पौद्गलिक विषयों का सम्बंध और अनुभव होता है । इससे सिद्ध है कि इसका कारणभूत कर्म भी मूर्तिक है । जब उदय में आने वाला कर्मों का फल मूर्तिक है और वही भोगा जाता है तो समझिये कि वह कारण भी मूर्तिक है ।

बद्ध जीव की कथंचित् मूर्तता—कर्मफल का भोगने बाला जीव भी तो देखो—व्यवहारदृष्टि से मूर्तिक बन गया । जीव का स्वभाव तो विषयों से अतीत शुद्ध सहज परम आनन्द के भोगने का है जो कि निर्विषय परमात्मतत्त्व की भावना से प्रकट होता है । वहाँ तक तो जीव की एक शुद्ध अमूर्त सीमा की बात थी । उस सीमा को छोड़कर जो इन पौद्गलिक विषयों में रमने लगा, इन पौद्गलिक को भोगने लगा, ऐसा भोगने वाला जीव भी मूर्त कर्मों के सम्बंध से व्यवहार में मूर्त बन गया । जिन इन्द्रियों द्वारा यह जीव विषयों को भोगता है वे इन्द्रियाँ भी पौद्गलिक हैं । जीव का स्वभाव नहीं है कि इसमें इन्द्रियां हों ।

परमार्थतः इन्द्रियों की ज्ञानानन्दबाधकता—इन्द्रियां तो जीव के ज्ञान में बाधक हैं और आनन्द में बाधक हैं, पर अनादि से बन्धनबद्ध यह जीव जब-जब जिन-जिन इन्द्रियों को पाकर ज्ञान करता है तो इसे वह ज्ञान का साधक मानता है । जैसे किसी एक कमरे में बैठा हुआ पुरुष कमरे में खुली हुई ५ खिड़कियों से बाहर देख सकता है । कमरे में ५ खिड़कियाँ हैं तो उनकी जगह से ही देख सकता है, पर उस पुरुष में जो देखने की ताकत है क्या उस ताकत में ये खिड़कियों कारण हैं? व्यवहार में लोग कहते है कि यह आदमी खिड़कियों से देख रहा है, पर खिड़कियां तो एक बाह्य आलम्बन हैं और वस्तुत: इस पुरुष के सर्व सामर्थ्य की बाधक हैं । भीत ही न हो, कुछ भी खिड़कियां न हों तब तो यह पुरुष सर्व ओर से देख लेता है । ऐसे ही जीव में जानन का सामर्थ्य है, पूर्ण है, सर्व ओर से है लेकिन जब आवरण पड़ा है ऐसी स्थिति में क्षयोपशम के अनुसार इन द्रव्येन्द्रिय की खिड़कियों से जानता है और देखता है । यह जीव तो इन्द्रियरहित है । इन्द्रियरहित अमूर्त शुद्ध आत्मतत्त्व से विपरीत ये इन्द्रियाँ हैं जिन इन्द्रियों के द्वारा यह जीव कर्मफल को भोगता है ।

उपाधि की सिद्धि—कर्मफल भोगने के विषय पुद्गल हैं । इससे यह सिद्ध है कि कर्म भी पुद्गल हैं । यह जीव केवल जीव ही होता तो यह विडम्बना कहाँ हो सकती थी? यह विडम्बना, यह विभिन्नता, ये विषमतायें यह सिद्ध करती हैं कि जीव के साथ जीव के स्वरूप से विपरीत कोई अन्य चीज लगी है, इतना तो साधारणतया निश्चित है । जीव के साथ कोई दूसरी चीज लगी है तब जीव की यह विडम्बना है । वह दूसरी चीज क्या जीव के अनुकूल होगी? यदि जीव के स्वरूप के अनुरूप वह द्वितीय चीज है तो भी विडम्बना नहीं हो सकती । जीव के मुकाबले में जीव का प्रतिपक्ष जीव के विपरीत कोई दूसरी वस्तु लगी है जिससे ये विसमताएँ होती हैं ।

दृष्टान्तपूर्वक उपाधि की सिद्धि—जैसे एक जल पड़ा हुआ है । जल गर्म हो गया तो गर्म हो जाना यह साबित करता है कि इस जल के साथ जल के लक्षण से विपरीत किसी दूसरी चीज का सम्बन्ध होता है तब यह जल गर्म होता है । जल के साथ जल ही जुड़ जाय तब तो गर्म नहीं होता । जल जैसी ही चीज जल के साथ जुड़ने से जल में विपरीत स्पर्श नहीं होता । कोई विपरीत ही वस्तु साथ है तब जल गर्म हुआ । चाहे सूर्य की किरण हो, चाहे अग्नि हो चाहे बिजली हो, कुछ भी चीज जल के स्वरूप से विपरीत स्वरूप वाली जल के संयोग में हुई तब जल गर्म दुआ । ऐसे हो शुद्ध ज्ञायकस्वभावी इस आत्मा की जो यह विडम्बना होती है—गति, इन्द्रिय, काय आदिक रूप में इनकी व्यक्ति हुई है तो इस विडम्बना में कारण कोई दूसरा पदार्थ हैं और वह दूसरा पदार्थ जीव के स्वरूप से विपरीत ही होगा । जीव चेतन है तो वह उपाधि अचेतन है, जीव अमूर्त है तो वह उपाधि मूर्त है । यों जीव के साथ लगी हुई उपाधि जिसको कर्म नाम से कहते हैं वह मूर्तिक है और अचेतन है ।

कर्मव्यपदेश का कारण—यहाँ एक बात और खास समझने की है कि कर्म नाम इन उपाधिभूत पौद्गलिक वर्गणावों का पड़ गया है । थोप कर के नाम हुआ है । वे पौद्गलिक वर्गणायें जो हैं सो ही हैं । कर्म तो उसे कहते हैं जो किया जाय । क्रियते इति कर्म: । जो जीव के द्वारा किया जाता है उसका नाम कर्म है । कोई भी पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का करने वाला नहीं होता । जो परिणमता है वह कर्ता है । जो परिणमन होता है वह कर्म है । तो जीव के द्वारा किया गया कुछ अधिक से अधिक बहुत कुछ भी होगा तो विभाव है, राग द्वेष मोह है । इससे आगे जीव की कुछ करतूत नहीं है तो जीव के द्वारा किए गए रागादिक भाव हैं और रागादिक भावों का निमित्त पाकर जिसमें अवस्था कुछ बनी है, अन्तर में जिन वर्गणावों में जो जीव के साथ बंध को प्राप्त हैं उनका नाम अब कर्म पड़ा । तो कर्म वर्गणावों में कर्म नाम औपचारिक है । जीव के विभाव का कर्म नाम साक्षात् है । कुछ भी

तो नाम रखना पड़ता है जो जीव के साथ उपाधि के साथ लगा हुआ है, उनका नाम कोई देव कहे, कोई भाग्य कहे, कोई तकदीर कहे, कोई विधाता कहे उसका नाम अन्वर्थक सम्बंधित कर्म है । जिनकी समझ में उस कर्मवर्गणा का स्वरूप यथार्थ नही आया वे इस कर्म के बारे में ईश्वर जैसा रूप, सृष्टा, ब्रह्मा आदिक रूप में मानते हैं । तो वे कर्म औपाधिक हैं, मूर्त हैं, अचेतन हैं जिस कर्म के फल को यह जीव उन पौद्गलिक इन्द्रियों के द्वारा पौद्गलिक विषयों का भोग करता है । यह विषय चल रहा है पुण्य और पाप का । पुण्य और पाप पौद्गलिक कर्म हैं । पहिले कथन में जीवपुण्य और जीवपाप का वर्णन था, अब इस गाथा में अजीवपुण्य और अजीवपाप का वर्णन चल रहा है । अजीव पुण्य अथवा पापकर्म मूर्तिक हैं, अचेतन हैं, जीव के स्वरूप से विपरीत हैं ।

गाथा १३४

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि ।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि तं तेहिं उग्गहदि ।।१३४।।

बन्धन—यह मूर्त कर्म मूर्तिक कर्मों से स्पर्श करता है । मूर्तिक कर्मों के बन्धन से बँधा हुआ जीव बन्धन में होने पर भी मूर्त नहीं बन गया । कहीं वह स्वयं रूप, रस, गंध, स्पर्शमय नहीं हो गया, जब हम इस जीव की ऐसी पराधीनता देख रहे है कि शरीर का बंध है। शरीर चले तो जीव चले, शरीर की कुछ अवस्था बने तो यह जीव उस अवस्था का भोगने वाला हो जाता है । ऐसी विकट मिश्रता देख कर के इस जीव को भी मूर्त कहा जाता है । तो जब संसारी जीव में अनादि संतान से चला आया उदयागत मूर्त कर्म आगामी कर्म का स्पर्शन करता है तो यह मूर्त कर्म मूर्त से परस्पर बंध अवस्था को प्राप्त' हो जाता है और यह मूर्त भावों से रहित जीव उन कर्मों का ग्रहण करता है, उनके साथ भी बँध जाता है । इस ही अर्थ में यह भी अर्थ समझो कि यह मूर्तिक कर्म मूर्तिक कर्म से ही स्पर्श करता है और उन दोनों के बन्धन में यह जीव अमूर्त होकर मूर्त जैसा बनकर एक परतंत्र हो जाया करता है ।

बन्धन का उदाहरण—बन्धन के मर्म का एक उदाहरण देखिये-जैसे लोग गाय बांधते हैं गिरमा के द्वारा, रस्सी के द्वारा बाँधते हैं तो क्या रस्सी और गाय ये दोनों मुकाबले में आकर परस्पर में बंधता हैं? नहीं । रस्सी का एक छोर रस्सी के दूसरे छोर के मुकाबले में आकर परस्पर में बँधता है, तो बन्धनरूप स्पर्श गाँठ रस्सी-रस्सी में ही लगी, किन्तु इस गाँठ के अनुसार यह गाय पराधीन हो गयी,

अब बाहर कहाँ जाय? गाय का गला पकड़कर और रस्सी का एक छोर पकड़कर क्या गाय बाँधी जाती है? तो जैसे रस्सी में रस्सी ही बँधती है, फिर भी वह प्रसंग ऐसा है कि उस स्थिति में यह गाय बँधी हो जाती है । इसी प्रकार जहाँ तक स्पर्श की बात है कर्म का कर्म के साथ स्पर्श है और उस स्थिति में जीव-जीव का ही वह सब बिगाड़ है, कर्तव्य है । इसने विभाव किया है, अपराध है, इस कारण से यह जीव बँध जाता है । जैसे थोड़ी देर को समझ लीजिए कोई गाय बहुत सीधी है । उसे एक बार जहाँ खड़ी कर दो वहाँ से हिले नहीं । तो ऐसी गाय को कोई बाँधता नहीं है, जहाँ खड़ी है, खड़ी है । यह मोटी बात कह रहे हैं । जो गाय चंचल है, यहाँ से वहाँ भागती है उस गाय को लोग बाँधते हैं । तो यद्यपि वह बन्धन रस्सी का रस्सी से हुआ है, मगर गाय की करतूत गाय की आदत के कारण हो तो वह बन्धन पड़ा हुआ है । ऐसे ही यद्यपि कर्म का कर्म में बन्धन है, पर उस बन्धन का कारण तो जीव का विकार अपराध है ।

कर्मबन्धनों में जीवबन्धन—इस संसारी जीव में अनादि संतान से ये मूर्तिक कर्म प्रवर्तित चले आ रहे हैं और वे कर्म स्वयं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाले हैं, सो वे आगामी काल के मूर्तिक कर्मों को भी छूते हैं, वे अमूर्तिक कर्म उनके साथ स्नेह गुण के सम्बंध से बन्धन का अनुभव करते हैं । यह है मूर्तिक कर्मो का बन्धन का विकार । ये कर्म-कर्म से यों बँध जाते हैं । निश्चय से यह आत्मा अमूर्त है, फिर भी अनादिकाल से मूर्तिक कर्मों का निमित्त पाकर इसमें जो रागादिक परिणाम हुए हैं उनसे चिकना बनकर विशेष-विशेष रूप से मूर्तिक कर्मों को अवगाहता है अर्थात् अपने प्रदेशों में मूर्तिक कर्मों का बन्धन दे देता है और यों एक क्षेत्रावगाही बनकर यह विकट बन्धन डाल देता है फिर उन कर्मों का जब उदयकाल आता है तो उस काल में यह जीव फिर रागद्वेष करता है । उस रागद्वेष का निमित्त पाकर उदय में आये हुए कर्मों में नवीन कर्मों के बँधने की फिर प्रकृति हो जाती है और उससे यह लड़ाई, यह भिड़ंत इस जीव के साथ तब तक चलती रहती है जब तक इस भिड़ंत का कारणभूत कषाय शिथिल न हो जाय ।

अन्त:क्रिया—देखो भैया ! कितना सा तो अपराध है और विडम्बनाएँ इतनी अनेक हैं । अपराध जड़ में इतना ही है जीव का कि इस जीव ने अपने सहजस्वरूप को आपा न समझकर किसी परभाव को 'यह मैं हूं' इतना मान लिया है । देखिये सुनने में अपराध न कुछ जैसा है, किसी का क्या बिगाड़ा? किसी का न अनर्थ किया, न चोट पहुँचाई, न कोई क्रिया की । इस जीव ने अपने आप में ही आराम से भीतर ही भीतर बिना कोई अपने स्वरूप से बाहर उत्पात मचाये सिर्फ पर में यह मैं हूँ, इस प्रकार का श्रद्धान बनाता है, इतनीसी अपराध वृत्ति का फल यह जगजाल बन गया है, और जब

यह जगजाल मिटेगा भी तो उसके उपाय में इतना ही छोटासा कार्य करना होगा । अपने आपके स्वरूप में अन्त: ही बना हुआ कुछ बाहर में क्रिया श्रम न करके अंत: यही एक भाव कर लेना है चित्प्रकाश को दृष्टि में निरखकर कि यह मैं हूँ, ऐसी दृढ़तापूर्वक एक भाव बनाना है, फिर देखो यह सारा जगजाल भी बिखर जायगा और मिट जायगा ।

जीवक्षेत्र में कर्मों का अवगाह—इस बंधन के प्रसंग में इस जीव ने कर्मों को अवगाह दिया, और जब जीव ने कर्मों को अवगाह दिया, स्थान दिया तो मानो निशंक होकर अपनी ही बड़ी मजबूत स्थिति को रखते हुए इन मूर्त कर्मों ने भी वहाँ अपना अवगाह कर लिया । जैसे कोई नया पुरुष आता है आपके पास तो आप उसे अच्छे स्वभाव से बुलाते हैं, आइये साहब ! तो आपके इतना कहने से आने वाला निःशंक होकर बड़े ढंग से वहाँ आ जाता है । तो जब इस मूर्त जीव ने इस पराधीन जीव ने इन कर्मों को अवगाह दिया कहकर नहीं, किन्तु एक प्रेक्टिकल अपनी वृत्ति बनाकर जब अवगाह दिया तो ये कर्म भी निशंक होकर बड़ी मजबूत स्थिति के साथ इस जीव में अवगाह को प्राप्त हो गए । यह है जीव और मूर्त कर्म का परस्पर में अवगाहरूप बंध की पद्धति ।

अमूर्त जीव का मूर्तकर्म से बन्धन पर प्रकाश—यह प्रकरण इस शंका का भी समाधान देता है कि जीव तो अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक है तो अमूर्तिक जीव के साथ कर्म का बन्धन कैसे हो जाता है? इस शंका के समाधान में भी यहाँ काफी प्रकाश आया हुआ है । यह मूर्तकर्म-मूर्तकर्म से ही बँधता है और उनके इस प्रकार के बन्धन में कारण है जीव का अपराध । यह जीव का अपराध उनके बन्धन का निमित्त हुआ । यों यह त्रिगड्ड कर्मबंध का प्रसंग बन गया । आगामी कर्म के बंधन का सीधा कारण है उदय में आये हुए कर्म और उदय में आये हुए कर्म इन मूर्त कर्मों को बाँध ले ऐसा उनमें निमित्तपने का कारण है जीव का अपराध । यों यह जीव अपराधवश मूर्त कर्मों से बँध जाता है ।

स्नेहबन्धन—भैया ! एक व्यवहारिक मोटी मिसाल ले लीजिए । यह तो कर्म की बात कही । कभी आपका किसी मित्र से तीव्र स्नेह हो जाय तो आप उसके साथ बँधे-बँधे फिरते हैं या नहीं? उस मित्र से बँध जाने का कारण क्या है? आपका पुत्र से स्त्री से जो मोह है वहाँ आप उससे बँधे-बँधे रहते हैं या नहीं? इस बन्धन का कारण क्या है? आपके चित्त में मोहपरिणाम आया, एक अपराध बना वहो अपराध उस बन्धन का कारण है । हालांकि यह एक क्षेत्रावगाह बन्धन नहीं है । यह दृष्टान्त अन्य किस्म का है । वहाँ एक क्षेत्रावगाह बन्धन हो जाता है, पर बन्धन में कारण यहाँ भी मोह रागद्वेष भाव है और वहाँ भी मोह रागद्वेष भाव है । यों यह जीव अपराधवश इन मूर्त कर्मों से बँध जाता है और

ये कर्म जीव के अपराध के अनुसार पुण्य अथवा पाप दो रूप में निश्चित हो जाते हैं । यदि जीव का शुभ रागरूप अपराध है तो यह कर्म पुण्यरूप हो जाता है । जीव का अशुभ रागरूप अपराध है तो वह कर्म पापरूप हो जाता है । इस प्रकार जीव के साथ जो पुण्य पाप नामक दो पदार्थ लगे हैं इनका वर्णन इन चार गाथावों में किया गया है, और इस वर्णन के साथ पुण्य पाप नामक पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हो जाता है ।

गाथा १३५

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।१३५।।

पुण्यास्रव का वर्णन—पुण्य पाप पदार्थ का व्याख्यान करके अब आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया जा रहा है । जिस जीव के प्रशस्त राग है, अनुकम्पा से सहित परिणाम है, चित्त में कलुषता नहीं है उस जीव के पुण्य कर्म का आस्रव होता है । आस्रवों में यहाँ पुण्यास्रव का वर्णन किया है, पुण्यपाप नामक दो पदार्थ होते हैं । वे दो पदार्थ पुण्यास्रव और पापास्रव के माध्यम से ही निकले हैं । उनमें से पुण्य पदार्थ का आस्रव कैसे होता है? उसका इसमें वर्णन है।

आस्रव और बन्ध का विश्लेषण—आस्रव और बंध में एक भाव का अन्तर है । कार्माणवर्गणा में कर्मत्वपरिणमन आना इसका नाम आस्रव है और वह कर्मत्व परिणमन चिरकाल तक बना रहे इसका नाम है बंध । आस्रव और बंध में से आस्रव पहिले होता है और बंध पीछे होता है, यह एक समझ में क्रम है तथा दो समय की स्थिति पाये तो उसका नाम बंध है और एक ही समय का कर्मत्व परिणमन हो तो उसका नाम आस्रव है । ऐसे आस्रव और बंध के स्वरूप होने से भी आस्रव पहिले और बंध पीछे होता है । यह भी समझ में रहता है किन्तु यह विभाग नहीं है कि कोई भी कर्मत्व परिणमन पहिले समय में बंध न कहलाये और दूसरे समय से बंध कहलाये । यद्यपि बंध का यह लक्षण है कि एक से अधिक समय तक स्थिति हो तो उसका नाम बंध है, लेकिन अनेक समय की स्थिति होने पर भी बंध प्रारम्भ से ही कहलायेगा । यदि दो समयों की स्थिति न हो तो वह बंध नहीं है । जब बँध होता है तो वह पहिले समय से ही बंध कहलाता है । कोई कर्म पहिले समय में आये और हजारों समय तक रहेगा तो क्या पहिले समय में जीव के साथ बन्धन नहीं है? जिसका बन्धन है उसका पहिले समय से ही बन्धन है, और जिसको दूसरे समय की स्थिति नहीं मिलती । जैसे

११वें, १२वें और १३वें गुणस्थान में जो सातावेदनीय का आसव होता है उसकी रसमय स्थिति नहीं होती । उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं, वह बंध नहीं है ।

आस्रव और बन्ध का सम्बन्ध—कोई मनुष्य किसी रास्ते से दौड़ता हुआ गेट को पार करके आगे तक चला गया तो वह चला गया, उसका आना ही आना रहा, बंध नहीं रहा, किन्तु वह २ मिनट को भी उस गेट में खड़ा होता है तो उसका ठहरना कहलाता है । ठहरने का ही नाम बंध है । तो वह दो मिनट ठहरा तो क्या उसे यह न कहेंगे कि वह पहिले मिनट में भी ठहरा हुआ था? ठहरता है तो वह प्रारम्भ से ही ठहरा है और नहीं ठहरता है तो ठहरा हुआ ही नहीं । इसी प्रकार आस्रव और बंध दोनों का प्रारम्भ उस समय, फिर भी कर्मत्वपरिणमन का आना और उसका चिरकाल तक रहना—इन दोनों के स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं तो समझ में क्रम हो जाता है कि आस्रव पहिले हुआ और बंध उसके बाद हुआ ।

आस्रव का अर्थ—आस्रव का अर्थ है कार्माणवर्गणा में कर्मत्व की अवस्था आना । कहीं कर्म बाहर से नहीं आता । जैसे कि लक्षण सुगमतया बोला जाता है, कर्मों के आने का नाम आस्रव है । इस जीव में कर्म आ जाये इसका नाम आसव है, तो क्या कर्म बाहर से जीव में आते हैं और फिर आकर बँधते हैं? ऐसा नहीं है । इस जीव के प्रदेशों में ही एक क्षेत्रावगाहरूप से विस्रसोपचित अनन्त कार्माणवर्गणायें मौजूद हैं जो कर्मरूप तो नहीं हुई, किन्तु कर्मरूप जो हुई हैं उनकी भांति ये भी कार्माणवर्गणायें जीव के साथ रहती हैं । भवमरण होने के बाद भी जीव के साथ जैसे बँधे हुए कर्म जाते हैं तैसे ही न बँधे हुए उम्मीदवार विस्रसोपचय, ये कार्माणवर्गणायें भी साथ जाती हैं । इस जीव में अनन्त कार्माणवर्गणायें पहिले से ही मौजूद हैं । उन वर्गणावों में कर्मत्वपरिणमन होना इसका नाम आस्रव है ।

प्रशस्त अनुराग का परिणाम—जिस जीव के प्रशस्त राग है वह प्रशस्त राग यद्यपि वीतराग परमात्मतत्त्व से तो भिन्न चीज है, लेकिन पंचपरमेष्ठियों में, उनके अतिशय में, गुणों में अनुराग होना यही है अनुराग की प्रशस्तता । जिसके यह होता है उसके पुण्यकर्म का आस्रव होता है । प्रभुभक्ति, गुरुसेवा, ज्ञानार्जन, परोपकार आदिक विषयों के लगाव से रहित जो भाव हुआ करते हैं वे सब प्रशस्त अनुराग हैं । प्रशस्त अनुराग होने पर जीव के जो कर्म बँधते हैं वे पुण्य कर्म बंधते हैं। यद्यपि जहाँ तक बन्धन होता है वहाँ तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक ऐसा नहीं है कि किसी जीव के पुण्यकर्म ही बँधता हो और पापकर्म बिल्कुल न बँधता हो और सकषायतात्मक जिसके पुण्य का बन्धन हो रहा है

उसके पाप का बन्धन भी चलता है। साधु के १०वें गुणस्थान तक भी पापकर्म बन्ध है, लेकिन जिसके प्रशस्त अनुराग है उसके पुण्यकर्म का अनुभाग विशेष होता है और पुण्यबंध की वहाँ विशेषता रहती है।

पुण्यास्रव का अघातियाकर्म से सम्बन्ध—देखिये घातियाकर्म ४७ हैं, वे सभी के सभी पापकर्म कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के, ७ पाप प्रकृतियों का नाश हो गया है—अनन्तानुबंधी ४, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति। इनमें सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति इन दो का बंध नहीं हुआ करता। सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये बंध योग्य नहीं बताये। ५ का बंध होता है। इन दो की सत्ता कब आती है? जब उपशम सम्यक्त्व होता है, तब मिथ्यात्व के ३ खण्ड हो जाते हैं। उनमें २ खण्ड सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति हैं। तो यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यक्त्व का घातक पापप्रकृतियों का आस्रव नहीं होता, किन्तु शेष घातिया कर्मों का आस्रव चलता रहता है। हाँ, अघातिया कर्मों में पुण्यप्रकृति का बंध होना और पापप्रकृति का बंध न होना, इस दृष्टि से पुण्यबंध की विशेषता आती है और घातिया कर्मों का भी अति शिथिल बंध चलता है।

अनुकम्पा का परिणाम—जिस जीव के दयासहित परिणाम है, अन्तरंग में करुणा का भाव है और बाहर में मन, वचन, काय का दया के अनुरूप व्यापार है, ऐसा जो दयासहित परिणाम है उससे भी पुण्यकर्म का आस्रव होता है। किसी पुरुष को अपने पुत्र स्त्री की तकलीफ में बहुत बड़ी दया आती है। स्त्री पुत्र का दु:ख देखा नहीं जाता, रोना आ जाता है और उसके दु:ख का यथाशीघ्र दूर करने का अधिकाधिक यत्न किया जाता है, फिर भी उसे दयासहित परिणाम नहीं कहा है। वे जो कुछ क्रियाएँ हो रही हैं वे मोह की ठेस के कारण हो रही है। उसे मोहपरिणाम में सम्मिलित किया है। जिस जीव से हम अपनी विषमसाधना का कुछ ख्याल नहीं रखते ऐसे दु:खी जीवों को देखकर दया का परिणाम होना सो वास्तव में अनुकम्पा है। अनुकम्पा सहित परिणाम पुण्य के आस्रव का हेतुभूत है।

चित्त की अकलुषता का परिणाम—चित्त में कलुषता न होना, क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम भी न होना, ऐसी अकलुषता से जीव के पुण्यकर्म का आस्रव होता है। मंदकषाय हो, शान्ति की ओर झुकाव हो, क्रोध को हटाने का यत्न हो, मान कषाय को अहित समझे, नम्रता की वृत्ति बनाये, छल कपट को एक भयंकर दाह समझकर कौन इनमें उलझे और अपने उपयोग को भूलभुलैया में डाले, छल से दूर रहने और सरल वृत्ति रखने का यत्न करना, तृष्णा में न बढ़ना, पाये हुए समागम को ही

आवश्यकता से अधिक समझकर प्रसन्नता से गुजारा करना और धर्मपालन के लिए अपनी जीवन मानना, इस प्रकार के जो मंद कषाय के परिणाम होते हैं उन परिणामों से पुण्यकर्म का आस्रव होता है ।

पुण्यास्रव के तीन मूल हेतु—इस गाथा में तीन शुभ भावों का निर्देश किया है । प्रशस्तराग, अनुकंपा परिणाम और चित्त में कलुषता का अभाव-इन तीन प्रकार के शुभ परिणामो से जीव के पुण्यकर्म का आस्रव होता है । ये तीन प्रकार के भाव द्रव्यपुण्य के आस्रव के निमित्तमात्र हैं और उन द्रव्यकर्मों के आस्रव से ऊपर भाव पुण्यास्रव होता है । अर्थात् भाव पुण्य का निमित्त पाकर द्रव्यपुण्य प्रकृतियों का आस्रव हुआ करता है । उन परिणामों के निमित्त से और योग के द्वार से प्रवेश करने वाले पुद्गल के जो शुभकर्म का परिणमन होता है वह द्रव्यपुण्यास्रव कहलाता है । अब इस गाथा में जो तीन भाव कहे गए हैं उनका क्रम से स्वरूप कहेंगे । प्रथम प्रशस्त राग का स्वरूप बतला रहे हैं ।

गाथा १३६

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणंवि गुरूणं पसत्थ रागोत्ति बुच्चंति ।।१३६।।

प्रशस्त राग में अर्हद्भक्ति—अरहंत सिद्ध साधुवों में भक्ति परिणाम का होना और व्यवहारचारित्र में धर्म में, उस धर्म के अनुष्ठान में वासना का होना और गुरुवों के रसिक रूप से गुरुवों के भाव के अनुरूप अपना प्रवर्तन बनाना यह सब प्रशस्त राग कहलाता है, क्योंकि इस राग का विषय प्रशस्त है, शुभ है । अरहंत भगवान का कैसा शुद्ध विकास है, निर्लेप, निर्दोष, कैसा उनका शुद्धस्वरूप है, परम आनन्दमय सर्व का ज्ञाता, सबमें उत्कृष्ट यह परमात्मतत्त्व है । भव्य जीवों का एकमात्र आधार यह अरहंतस्वरूप है । उसका स्मरण कर करके अपने चित्त में प्रासाद होना यही है अर्हद्भक्ति ।

प्रशस्तराग में सिद्धभक्ति—ऐसे ही सिद्धप्रभु का स्वरूप स्मरण करना सिद्धभक्ति है । सिद्धभगवान सर्वथा निर्लेप हैं । किसी भी पदार्थ का सम्बन्ध नहीं रहा । जैसे लोक में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य रहते हैं, मगर किसी से छुवे हुए नहीं हैं । आकाश में कुछ भी होता रहे, आकाश का क्या बिगाड़ होता है? आग जला दिया। तो क्या आकाश जल जायगा? तो जैसे आकाश-आकाश में है और वह सबसे निर्लेप है ऐसे ही सिद्धभगवान अत्यन्त निर्लेप हैं । यद्यपि जहाँ सिद्धप्रभु रहते हैं वहाँ निगोद जीव भी रह रहे हैं, कर्मवर्गणायें भी भरी हैं लेकिन सिद्ध का परिणमन सिद्ध में है, यह

सिद्ध अपने एकत्व को लिए हुए हैं, अत्यन्त निर्लेप हैं । अनन्तचतुष्टयसम्पन्न और शरीरादिक के लेप से अत्यन्त रहित सिद्धप्रभु का स्मरण करके यह ही सर्वोत्कृष्ट सार है ऐसा ध्यान बनाकर जो भक्ति उमड़ती है वह है सिद्धभक्ति ।

प्रशस्तराग में साधुभक्ति—साधु परमेष्ठी ज्ञान वैराग्य व आनन्द की मूर्ति हैं । इनका परिकर से कुछ सम्बन्ध नहीं रहा, वे किसी भी जीव से अपने किसी इन्द्रियविषय की साधना नहीं चाहते, विषयों से भी विरक्त हैं । केवल जिनकी यही अभिलाषा है कि मैं अपने आपको शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप के रूप में मानता रहूं, इसही को देखता रहूं, इसही में मग्न होऊं, ऐसी जिसकी भावना रहा करती है और जो कुछ परिणति करते हैं तो अन्य जीवों के हित के लिए परिणति करते हैं । जिनका नेत्र चाल दूसरे जीवों के कल्याण का कारण होता है, जिनका गमन स्वपर के कल्याण के हेतु होता है, जिनका आहार तक भी स्वपर जीवों के कल्याण के लिए होता है ऐसे परोपकार शील स्वहित का निर्भर ध्यान रखने वाले साधु पुरुष कैसे विशुद्ध हैं, कैसी निर्मलता इनमें है, उनके गुणों का स्मरण कर करके चित्त में निर्मलता प्रकट करना और ऐसे साधुवों के चरणों में अपने आपका समर्पण करने जैसी वृत्ति जगाना, यह सब साधुभक्ति है । इन परिणामों से पुण्यकर्म का आस्रव होता है । यह सब प्रशस्त राग कहलाता है ।

प्रशस्तराग में भक्ति का प्राधान्य—यह प्रशस्त राग एक स्थूल लक्ष्य होने से केवल भक्ति-भक्ति की ही प्रधानता हो, ऐसी स्थिति व्यवहार से कदाचित् अज्ञानी जन की भी हो सकती है अर्थात् मिथ्यात्व की स्थिति होते हुए भी प्रशस्तराग सम्भव है तो वहाँ भी पुण्य का आस्रव हो जाता है, पर वास्तविक मायने में जहां लक्ष्य का परिचय हुआ हो फिर अरहंतसिद्ध साधुवों में भक्ति जगती है वह अति विशुद्ध परिणाम है और सातिशय पुण्य के आस्रव का कारण है । जब ज्ञानी जीव होता है और वह भी भक्ति प्रधान की पदवी तक रहता है तो उसका यह मोक्षमार्गविषयक प्रशस्त राग होता है और यह ज्ञानी जब और ऊपर भूमिका में बढ़ता है और शुद्ध वीतराग दशा को प्राप्त होता है तब इसके यह प्रशस्त राग उस समाधान और समाधि के अभिमुख लगता हुआ होता है ।

ज्ञानी के प्रशस्त राग का प्रयोजन—ज्ञानी जीवों के यह प्रशस्तराग इन-इन प्रयोजनों से होता है कि मेरा कहीं अनायतन में राग न पहुंच जाय । जो कुदेव है, कुशास्त्र है, कुगुरु है अथवा विषयों के साधन हैं, इनके राग का खण्डन करने वाला यह प्रशस्त राग है । यद्यपि प्रभुभक्ति में गुरुभक्ति में भी राग मौजूद है, पर यह राग तीव्र राग के ज्वर का विनाश करने वाला है । इस प्रशस्तराग से अप्रशस्त

राग का खण्डन हो जाता है । ऐसा यह प्रशस्त राग ज्ञानी जीवों के भी हुआ करता है ।

अपना लक्ष्य—हम आपको क्या करना है और क्या बनना है? इसका ठीक निर्णय न हो तो हम धर्मपालन क्या करेंगे? और इस निर्णय के लिए इसका कोई आदर्श सामने रहना चाहिए । उन आदर्शों में परम आदर्श हैं अरहंत प्रभु । यह केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्तआनन्द और अनन्त शक्ति से सहित है । क्षुधा, तुषा, जन्ममरण, शोक चिन्ता आदिक १८ दोष जिनके नहीं पाये जाते हैं, जिन्होंने धर्मध्यान और शुक्लध्यान के बल से अर्थात् रागरहित, विकल्परहित विशुद्ध ध्यान के बल से ज्ञानावरणादिक प्रकृतियों का विनाश किया है, ऐसे अरहंत देव का स्वरूप कितना आदर्श है? हम ऐसे स्वरूप का स्मरण करके अपना यह भाव बनायें कि मुझे तो यह बनना है, मुझे धनिक नहीं बनना, है, इस असार संसार में यशस्वी नहीं बनना है । लोग भी कुछ समझें कि यह भी कोई है, मुझे इसकी चाह नहीं है । मैं तो यह अर्हत्यस्वरूप चाहता हूँ, ऐसा हमारे चित्त में आदर्श हो और ऐसा ही बनने का हमारा एक लक्ष्य हो।

अपना कर्तव्य—भैया ! निर्दोष परमात्मस्वरूप की उपासना कर के उस निर्दोष परमात्मतत्त्व में उपयोग को रमाओ । निज में विराजमान अंतस्तत्त्व का इस जीव ने उपयोग नहीं किया और इसी कारण आर्तध्यान और रौद्रध्यान में ही यह उलझा रहा, इससे नाना कर्मों का बन्धन हुआ है । यह बन्धन स्वरूपदृष्टि से समतापरिणाम से टूट जाता है और वहाँ यह परमात्मस्वरूप प्रकट होता है । हमें बनना है ऐसा परमात्मतत्त्व जिसकी अन्तिम परिस्थिति सिद्धत्व की है, ऐसा अरहंत और सिद्धस्वरूप का आदर्श मानकर उनके बताये हुए मार्ग पर चलना यही काम हमारे करने को पड़ा है । शेष काम यथायोग्य जैसा सहज बने, पर पुरुषार्थ करके, यत्न करके तो हमें आत्मा का शुद्ध विकास करना है, इसके सिवाय हमारा कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है, यह भावना होनी चाहिए ।

साधु आचार—साधु तीन प्रकार के होते हैं—आचार्य, उपाध्याय और मुनि । जो निश्चय पंचाचार का आचरण करते हैं अर्थात् विशुद्ध अपने स्वलक्षण मात्र ज्ञानदर्शनस्वभावी अंतस्तत्त्व के सम्बंध में निश्चला रुचि रखते हैं, जैसा स्वयं सहज अपने आपके सत्त्व के कारणस्वरूप है, प्रकाश है उस रूप ही जो ज्ञान किया करते हैं और ऐसे ही ज्ञान में स्थिरता से जो रहते हैं अर्थात् तद्रूप परिणमन करते हैं ऐसा तो हुआ निश्चयदर्शनाचार, निश्चयज्ञानाचार और निश्चयचारित्राचार—इन तीन प्रकार के निश्चय रत्नत्रयों के आचरण का वे आचार्य पालन करते हें ।

निश्चय पञ्चाचार—निश्चय रत्नत्रय के आचार के अतिरिक्त निश्चय तपश्चरण का भी वे साधु आचरण करते हैं । निश्चय तपश्चरण नाम है इस प्रकार से निज आत्मद्रव्य में प्रतपन करना, जिस प्रकार से परद्रव्यों की इच्छा का परिहार हो, निरीहता पूर्वक अपने आपके अंतस्तत्त्व में तपना इसका नाम है निश्चय तपश्चरण । जैसे कोई पुरुष किसी छोटीसी गुफा में जहाँ चारों ओर से कोई रास्ता न हो बाहर ढूँढने को, ऐसी गुफा में ठहर जाय तो उसका वह एक प्रकार का तपन है । यह तो एक कष्टरूप तपन है, किन्तु यहाँ अंतस्तत्त्व में जो ठहर जाता है, ऐसा ठहर जाना कि बाहर कहीं ढूके भी नहीं, यह है चैतन्यप्रतपन । जहाँ अपने आपके प्रदेशों में ही इतना संकुचित रूप से ठहर जाय वहाँ होता है सहज विशुद्ध आनन्द । ऐसे आनन्द को भोगता हुआ अपने चैतन्यस्वरूप में ठहरना इसे प्रतपन यों कहा है कि व्यवहारदृष्टि से तो जैसे लोक में संकुचित जगह में ठहर जाय, अधिक हिलने-डुलने को स्थान न मिले तो उसे तपन कहा करते हैं, पर यहाँ तो प्रदेशों से बाहर एक अणु मात्र भी यह हिलता नहीं है, अपने आपके प्रदेशों में ही चैतन्यस्वरूप की दृष्टि रखकर तप करता है, एक तो यों यह तपन कहलाया । दूसरी बात यह है कि जो पुरुष निज चैतन्यस्वरूप में ही मग्न हुए तो उनमें से प्रताप प्रकट होता है, जिस प्रताप के कारण रागद्वेष बैरी ठहर नहीं सकते । जिस प्रताप के कारण यह प्रकाश लोकालोक में व्यापक हो जाता है, ऐसा जो चैतन्य का प्रताप फैलता है उसका नाम है निश्चय तपश्चरण । आचार्यदेव इस प्रकार निश्चय तपश्चरण का आचरण करते हैं तथा अपनी शक्ति को न छिपाकर अपनी शक्ति प्रमाण समस्त आचारों में सकुशल पूर्णरूप से अनुष्ठान करना, आत्म कार्यों को सम्पन्न करना, यही है निश्चयवीर्याचार ।

निश्चय पञ्चाचार का पालन—इस प्रकार जो निश्चय पंचाचार का आचरण करता है और साथ ही जैसा आचार आदिक सूत्रों में कहा गया है उसी प्रकार इस निश्चय के आचारों की साधना वाले व्यवहार पंचाचार का भी आचरण करते हैं तथा दूसरों को भी उपदेश देते हैं । उनके त्रुटियाँ न रहें, वे निर्वाध इस मोक्षमार्ग में ठहरते रहें, इस प्रकार का मार्ग दिखाने का आदेश करते हैं, प्रायश्चित देते हैं, वे प्रभु आचार्यपरमेष्ठी कहलाते हैं ! मुनिजन आचार्यों से प्रायश्चित्त लेने के भूखे रहा करते हैं जब कि लोक की यह प्रथा है कि या लोगों की यह इच्छा रहती है कि मेरे अपराध का मुझे दंड न मिले और मिले तो थोड़े में निपट जाये, किन्तु मुनि-राज अपनी प्रसन्नता से यह चाहते हैं कि मेरे दोषों का मुझे पूरा प्रायश्चित्त मिले । ऐसी इच्छा होने का कारण क्या है? मुक्ति की लगन । वे इस बात में अपना अकल्याण समझते कि मैं अपराध करूँ और थोड़े से प्रायश्चित्त में निपट लूँ । अरे घर द्वार किसलिए छोड़ा था? एक निर्दोष मोक्षमार्ग में चलने के लिए । अपराध के शेष रहने से तो मोक्षमार्ग सारा हो रुक गया । मैं तो बड़े टोटे में रहूंगा, ऐसी उत्कृष्ट लाभ की वाञ्छा होने के कारण वे प्रायश्चित्त

को पूर्णरूप से ग्रहण करना चाहते हैं । जब कोई एक विशुद्ध संकल्प होता है और सब समूह का भी वही विशुद्ध संकल्प होता है तब वहाँ न तो आचार्यदेव को व्यग्रता होती है और न मुनिजनों को व्यग्रता होती है । जैसे भी मोक्षमार्ग का काम बने उस प्रकार ही सबका व्यवहार होता है ।

उपाध्याय परमेष्ठी का प्रकाश—उपाध्याय परमेष्ठी वे कहलाते हैं जो मोक्षमार्ग का दूसरों को प्रतिपादन करते हैं और उस मोक्षमार्ग की स्वयं भी भावना करते हैं, उस मोक्षमार्ग का परिणमन करते हैं ऐसे साधुवों को उपाध्याय कहा गया है । ये उपाध्याय परमेष्ठी ज्ञान के पुञ्ज हैं, इन्हें अंगों का पूर्वों का भी विशद बोध रहता है, समस्त शास्त्रों का स्पष्ट अवगम रहता है और यह भी निर्णय है कि सर्व उपदेशों में सारभूत यह शुद्ध जीवास्तिकाय है । ५ अस्तिकाय और ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थों के बीच में यह जीवास्तिकाय, यह जीवद्रव्य जीवतत्त्व जीव पदार्थ निश्चय से उपादेय है ।

जीवास्तिकाय और जीवद्रव्य—जब हम वस्तु को फैलाव के रूप में देखते हैं तो फैलाव केवल ५ वस्तुओं में पाया जाता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश । इन पाँचों का नाम पंचास्तिकाय है । क्षेत्र की दृष्टि से इन सबका नाम पंच अस्तिकाय है और इन ५ अस्तिकायों में उपादेयभूत है जीवास्तिकाय । यहाँ भी क्षेत्र की प्रधानता से अपने जीव को देखा गया है ।जब हम वस्तुओं को परिणमनों की दृष्टि से निरखते हैं तो परिणमन करने वाले का नाम पड़ता है द्रव्य । द्रव्य ६ होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल । ये सभी अनादि से परिणमते चले आ रहे हैं, वर्तमान में परिणम रहे हैं और सदैव परिणमते रहेंगे । इन ६ द्रव्यों में उपादेयभूत है यह शुद्ध जीवद्रव्य । जैसे धर्मद्रव्य को, अधर्म, आकाशद्रव्य को जब हम इनके परिणमन को देखते हैं तो वहाँ परिणमन और मूलभूत द्रव्य ये दोनों एक रूप से ही जंचते हैं, वहाँ विषमता नहीं प्रकट होती है । अगुरुलघुत्व गुण के कारण जो वृद्धि हानियां होती हैं वे स्वरूप की सत्ता बनाने के लिए है । यों ही हम बहुत अन्तर में चलकर इस शुद्ध जीवद्रव्य को देखें तो अगुरुलघुत्व गुण के द्वारा जो हानि वृद्धि होती है उससे यह जीव विस्तार और यह परिणमन वे सब एकमेक रहते हैं । इस प्रकार के शुद्ध परिणमन की दृष्टि से निरखने में आया हुआ जो जीवद्रव्य है वह शुद्ध, जीवद्रव्य उपादेयभूत है ।

जीव तत्त्व और जीव पदार्थ—जब हम भावदृष्टि से वस्तु को देखते हैं तो इसका नाम तत्त्व पड़ता है । तस्य भाव: तत्व । भावदृष्टि से ये ६ तत्त्व हैं । उन्हीं छहों तत्त्वों को भावदृष्टि से देखो तो उन ६ तत्त्वों में से उपादेयभूत यह शुद्ध जीवतत्त्व है । और जब हम एक पिण्डरूप से निहारते हैं तो ये सब ९ पदार्थ होते हैं अथवा छहों के छहों पदार्थ पिण्डरूप निरखे जायें तो उन सबमें विषयभूत सार

जीवपदार्थ मिलता है । इस प्रकार उपादेय का जो कथन किया करते हैं और भेदरूप रत्नत्रय, अभेदरूप रत्नत्रय मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं और स्वयं भी उस रूप अपने को भाते रहते हैं ऐसे साधुवों को उपाध्याय कहा है ।

साधुभक्ति—आचार्य और उपाध्याय के अतिरिक्त शेष जितने भी साधु हैं उनको मुनि कहते हैं । निश्चय आराधना के द्वारा जो शुद्ध आत्मस्वरूप का साधन करें उनका नाम साधु है । साधुत्व का लक्षण, मुनिपने का लक्षण आचार्य और उपाध्याय में भी है, किन्तु उपाध्याय और आचार्य में मोक्षमार्ग की विशिष्ट व्यवस्था के निर्देशन के कारण उपाध्याय परमेष्ठी विशेष रूप से और आचार्य परमेष्ठी विशेष रूप से कहे गए हैं । यों जो पुरुष अरहंत भगवान में और सिद्धभगवान में बाह्य और आभ्यंतर भक्ति करते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु, जनों में भक्ति और उनकी सेवा करते हैं वे प्रशस्त रागी हैं । जिस प्रकार ये गुरुराज हम पर करुणा करें, इनका चित्त कैसे प्रसन्न हो उस प्रकार से उनका अनुगमन करें, उनके अभिप्राय के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति बनायें, यही है वास्तविक साधुजनों की सेवा । साधुजन किस बात से प्रसन्न रहा करते हैं? धर्मप्रभावना में । अपने आपके आत्मा में जो धर्म अवस्थित है उस धर्म की प्रभावना खुद करें, और दूसरे जीवों में भी उनके धर्म की प्रभावना निरखें तो इसमें साधुजन प्रसन्न रहा करते हैं अर्थात् ज्ञानी बनें, श्रद्धानी बनें और उस श्रद्धान के अनुसार अपने आपको अंत: प्रसन्न बनाये, ऐसी धर्मप्रभावना जब यह गुरुराज निरखते हैं तो इनका चित्त प्रसन्न रहता है । तो जिस प्रकार उनकी कृपा बने उस प्रकार अनुगमन करना सो साधु धर्मभक्ति है ।

ज्ञानी का प्रशस्त राग—मोक्षमार्ग की पद्धति से जो पंचपरमेष्ठियों की भक्ति में रहता है उसका नाम प्रशस्त राग है । ज्ञानी जन जितना भी कर सकते हैं पंचपरमेष्ठी में राग उनका यह शुभ राग है । शुभ राग यों कहलाता कि इस राग का विषय शुभ है । लोग भोगा की आकांक्षा से सेवा किया करते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष इन विषयकषाय के आयतनों में राग न पहुंचे अथवा तीव्र राग ज्वर न रहे, अशुभ राग का निषेध करने के लिए वे प्रशस्त राग किया करते हैं । इस प्रशस्त राग से पुण्य का आस्रव होता है । इस प्रकार आस्रव तत्त्व के प्रकरण में पुण्यास्रव को व्याख्या करते हुए प्रशस्त राग का स्वरूप बताया है । अब अनुकम्पा का स्वरूप बतलाते हैं ।

गाथा १३७

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ।।१३७।।

अनुकम्पा का स्वरूप—प्यासे, भूखे दु:खी प्राणी को देखकर स्वयं दुःखित मन होता हुआ जो कृपा से उनका दुःख दूर करने की क्रिया को करता है उस पुरुष के यह अनुकम्पा कहलाती है । किसी जीव को निरखा कि यह तीव्र तृषा से व्याकुल हैं अथवा तीव्र रोग से पीड़ित है उसको देखकर अज्ञानी जीव तो किसी भी उपाय से उसकी इस वर्तमान पीड़ा को दूर करने का प्रतिकार करते हैं और यह अज्ञानी जीव स्वयं व्याकुल होकर अनुकम्पा किया करता है । यह तो अज्ञानी जीवों की दया करने की पद्धति है । किन्तु ज्ञानी जीव जब निज तत्व की भावना में नहीं बैठे हुए हैं उस समय दूसरे जीवों को देखकर दया तो करते हैं, पर उस दया की पद्धति में एक विशेषता है । स्वयं दुःखी होकर दया नहीं करते, संक्लेश करके दया नहीं करते, किन्तु संक्लेश का परित्याग करते हुए यथासम्भव प्रतिकार करते हैं और उस प्रतिकार में मूल में यह भावना रहती है कि यह जीव क्षुधा, तृषा, रोग आदि दोषों से रहित अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र निजस्वरूप तक दृष्टि पहुंचा ले तो इस औषधि के प्रताप से इसके ये सारे संकट सदा के लिए समाप्त हो जायें । इस प्रकार ज्ञानी जीव मूल से दया करता है ।

ज्ञानी जीव के अनुकम्पापरिणाम—ज्ञानी जीव उन दुःखी जीवों को देखकर विशेषरूप से सम्वेग और वैराग्य की भावना को करता है । देखिये जिसके पास परिग्रह है, घर द्वार है, ऐसा ज्ञानी जीव भी मूल में उस प्रकार की भावना करता है और उसकी वर्तमान वेदना मिटाने के लिए जलपान कराना भोजन वस्त्र आदिक देना इन उपायों को भी करता है और जिसके परिग्रह नहीं है, गात्र मात्र ही जिसका परिग्रह रह गया है, ऐसा साधु क्या रोटी बनाकर उसे खिलाने लगेगा? किस प्रकार से उसका दुःख मेटेगा? शारीरिक सेवा कुछ कर सकता है । ज्ञानी संत पुरुषों की दया में मोक्षमार्ग की भावना की प्रधानता रहा करती है और वे ज्ञान औषधि से दूसरों के दुःख को दूर करने का यत्न करते हैं ।

वेदना और चिकित्सा—इस जीव में वेदना दो पद्धतियों से आया करती है । एक तो शारीरिक वेदना की पद्धति से और एक मानसिक चिन्ता की पद्धति से । जब शारीरिक रोग की पद्धति से भी इस जीव के वेदना आती है तो उसमें भी मानसिक चिंता की वृत्ति बनी रहा करती है । केवल शरीर की ही वेदना हो, मन का उसमें कुछ सहयोग न हो, ऐसा हम आप संज्ञी जीवों के नहीं होता, असंज्ञी जीवों के संज्ञा के कारण होता है तो वे उपदेश के पात्र भी नहीं हैं ।मन ही नहीं है तो उन्हें कौन उपदेश देने लगेगा? क्या किसी को यों देखा कि भाई इस सभा में थोड़े आदमी आते हैं इनको क्या उपदेश दें? जहाँ बहुत से जीव हों वहाँ चलें तो जंगल में किसी जगह लाखों और करोड़ों चींटी फैल

रही हों एक जगह, वहाँ बैठ जाय और उन्हें उपदेश देने लगे, सभा में तो १००-५० ही आदमी आते हैं, यहाँ लाखों जीव हैं, इन्हें उपदेश दे, ऐसा तो कोई नहीं करता । तो ये संज्ञी जीव जो शारीरिक वेदना से त्रस्त हैं उनके भी मानसिक चिन्ता का सहयोग है, और उससे वह वेदना कई गुनी हो गई है उस समय दोनों प्रकार की औषधियों की जरूरत है । शारीरिक रोग को मिटाने की आयुर्वेदिक औषधि और सम्वेग वैराग्य ज्ञानप्रकाश जैसे जगे उस प्रकार से वचन कहने की भी जरूरत है । तो साधु जन उस औषधि को किया करते हैं जो औषधि गृहस्थों के वश की नहीं है, ऐसी औषधि से दुःखी जीवों का दुख दूर करते हैं । भूख, प्यास, रोग की वेदना को थोड़ी देर को कोई आयुर्वेदिक उपचार से शमन कर ले तो वह कुछ देर बाद फिर वेदना खड़ी हो जाती है, किन्तु यह अध्यात्म चिकित्सा एक ऐसी मौलिक चिकित्सा है कि जिसके प्रसाद से अनन्तकाल के लिए भी कभी यह रोग आ ही नहीं सकता, क्योंकि उस चिकित्सा से रोग का आधार उपाधि का संग ही नहीं रहा, ऐसी परिस्थिति हो जाती है ।

अनुकम्पा के उद्भव में स्थिति—भैया ! दया का भाव जब भी किसी के प्रकट होता है तो उसमें कुछ खेद आये बिना होता ही नहीं । अज्ञानी जीव अति व्याकुल होकर, खेदखिन्न होकर दया का परिणाम करते हैं तो ज्ञानी जीव के कभी कुछ थोड़ा खेद होता है और वह भी एक अध्यात्मपद्धति के अवरोध के चिन्तन पूर्वक होता है, पर दया खेद बिना नहीं हुआ करती । जब तक दया करने वाले के चित्त में स्वयं दूसरे दुःखी के दुःख के अनुरूप किसी अंश में दुःख न जगे तब तक यह कैसे प्रतिकार करेगा? ठंड के दिनों में भिखारी लोग रात्रि के ४-५ बजे जब विकट तेज ठंड होती है तब बिना कपड़ों के खुले तन से बड़े कार्त स्वर से चिल्लाकर धनिकों से प्रार्थना करते हैं और उस समय ठंड से घबराये हुए रजाई के बीच पड़े हुए इस गृहस्थ को उनके दुःख का जब स्मरण होता है तो चित्त व्यग्र हो जाता है । हाय ! ऐसी ठंड में ये इस तरह से दुःखी होकर चिल्ला रहे हैं । जब इसके चित्त में वेदना जगी तब रजाई आदिक देकर उनका दुःख दूर करने का यत्न करते हैं ।

साधु जनों का अनुकम्पापरिणाम—संसारी जीवों के इन रोगादिक की वेदनावों में उनकी व्यग्रता निरखकर साधु जनों के चित्त में यह बात समा जाती है कि अहो ! देखो तो कैसा तो इनका सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है और उस स्वरूप का उपयोग न कर के एक बाह्य उपयोग बनाकर कितने तीव्र व्यग्र हो रहे हैं ये प्राणी । इस तरह निहारकर चूंकि ये साधु भी उस समय अपने स्वरूप में मग्न नहीं हैं तो अपने स्वरूप की अमग्नता के कारण और उसके स्वरूप की बेहोशी का ध्यान करने के कारण थोड़ा इन साधुवों के चित्त में भी खेद उत्पन्न होता है, जिस खेद से पीड़ित होकर दुःखी जीवों को

सम्वेग और वैराग्य ज्ञानप्रकाश जैसे उत्पन्न हो उस प्रकार उपदेश देने का यत्न करते हैं । इस प्रकार होती है ज्ञानियों के द्वारा की हुई अनुकम्पा । यह सब अनुकम्पा का भाव पुण्यकर्म के आस्रव का कारण है । इस प्रकार पुण्यास्रव के प्रकरण में अनुकम्पा भाव का स्वरूप कहा गया है ।

गाथा १३८

कोधो व जदा माणो माया लोभो य चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसोत्ति य तं बुधा वेंति ।।१३८।।

कालुष्य का स्वरूप—जिस समय क्रोध, मान, माया, लोभ, मन को प्राप्त होकर आत्मा में आकुलता को उत्पन्न करते हैं उस समय उसके परिणामों में कालुष्य परिणाम कहा गया है चित्त में क्षोभ होना, चित्त का ठिकाने न रहना, यह कषायों के तीव्र उदय में संभव है । जो पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि मेरा चित्त ठिकाने नहीं है तो उसका कारण यह लगा लेना चाहिए इस जीव को या तो क्रोध कषाय तीव्र जगी, जिस कषाय के कारण विवेक गुण जल गये हैं, अब विवेक मार्ग पर नहीं ठहर सका है, इस कारण उसका चित्त ठिकाने नहीं है, अथवा यों समझिये कि इतना तीव्र मान का उदय हुआ है । दूसरों को अपने से नीचा समझना और अपने को उत्कृष्ट समझना और इस ही समझ के अनुरूप अपनी मान्यता विशेष चाहे, यह बात जब नहीं बनती है तो ऐसी परिस्थिति में चित्त ठिकाने नहीं रहता । अटपट मनचाहे विकल्पों की दाह में जलते रहना पड़ता है । अथवा माया कषाय का तीव्र उदय हुआ है, छल कपट का परिणाम जगा है । किसी को कुछ बताना और कुछ मन में चाहना और कुछ काम करना, जहाँ मन, वचन, काय तीनों में विषमता हो जाती है । मन चाहता है यह और, वचन बोलना पड़ा है और तरह का और शरीर से चेष्टा की जा रही है और प्रकार से । ऐसी विषमता में चित्त को बड़े व्यग्रता हुआ करती है । अथवा यों समझिये कि लोभ कषाय की तीव्रता हुई है जिस तृष्णा के वश होकर इसका चित्त ठिकाने नहीं है । चित्त में जब भी व्यग्रता होती है तो कषायों के तीव्र उदय होने पर हुआ करती है । यह चित्त कलुषता का परिणाम पापास्रव का कारण है । खोटा परिणाम तत्काल भी खेद पहुंचाता है और भविष्य में भी बहुत काल तक खेद मानता रहेगा ऐसा देखा जाता है ।

कषायों के अभाव में आत्मा का लाभ—जब इस क्रोध, मान, माया, लोभ का मंद उदय होता है तो चित में प्रसाद उत्पन्न होता है; प्रसन्नता, निर्मलता, बोझरहित, हर्षायमान चित्त रहता है । ये कषाय ही जीव को दुःख के कारण हैं, कषायें हटें तो जीव की सुख आनंद स्वयं ही प्राप्त हो जाता है । जिसे

आनन्द चाहिए उसका कर्तव्य कषायों के हटाने का होना चाहिए । पर मोह के उदय में जिस ही प्रवृत्ति से क्लेश होता है उस ही प्रवृत्ति में इसे आनन्द सूझता है ।विषयों की प्रवृत्ति खेद का ही कारण है । पंचेन्द्रियों के विषयों में से कौनसा विषय ऐसा है जो इस जीव को शान्ति का कारण बनता हो? शान्ति का कारण बनना तो दूर रहो, इन विषयों के संकल्पमात्र से ही चित्त में व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है । जैसे कामविकार सम्बन्धी विकल्प जगा तो चाहे उस कामवासना के अनुरूप आगे कभी बात बने या न बने, पर जिस काल में वासना उत्पन्न हुई है उस ही काल में इसे तीव्र व्यग्रता हुई है, फिर भोग के काल में भी व्यग्रता और भोगने के बाद में भी व्यग्रता ।

विषयों में व्यग्रता—खूब खोज कर लीजिये—कौनसा विषय ऐसा है जिसका उपभोग शान्तिपूर्वक होता है? खाने की आसक्ति जिस पुरुष के रहती है उसके खाने में प्रवृत्ति रसास्वादन में प्रवृत्ति क्षोभ पूर्वक होती है । चित्त में उल्झन, व्यग्रता, बाह्यदृष्टि जब तक रहती है तब तक क्षोभ उत्पन्न होता है, और मनमाना आसक्ति सहित खाने के बाद भी क्लेश होता है और कम से कम इतना तो हो ही जाता है तुरन्त कि खाकर इसे चित्त लेटना पड़ता है, बेचैन होकर यह पेट पर हाथ फेरता है, व्यग्र होता है । शरीर उस समय वश में नहीं रहता और उसका परिणाम भी बुरा निकलता है । इसके लिए साधन भी जुटाने होते हैं । सैकड़ों आपत्तियाँ हैं । गंध में, रूप के अवलोकन में, शब्दों के श्रवण में सबमें चित्त की व्यग्रता है । यह तो लोभकषाय की बात कही है । इन्द्रिय के विषयों का उपभोग करना लोभ कषाय में सम्मिलित है । अब इस ही बुनियाद पर पद-पद पर इसके क्रोध, मान, माया और लोभ जगते हैं । उनका भी इसे बड़ा क्लेश भोगना होता है ।

अकालुष्य की परिस्थिति—जब इनका मंद उदय हो तब चित्त में एक प्रसाद उत्पन्न होता है । कुछ-कुछ इसे अब दुनिया के जीव समान दिखने लगते हैं । तीव्र कषाय में तो यह ही नजर आता था कि यह मेरा है, बाकी सब गैर हैं । अब इस हठ में भी कमी होने लगती है । इसे कहते हैं अकालुष्य परिणाम । कलुषता न रही, कालिमा न रही । तो जहाँ चित्त की कलुषता नहीं रहती है वहाँ पुण्य का आस्रव होता है । देखिये कभी-कभी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के भी कर्मोदयवश कलुषता उत्पन्न हो जाती है, लेकिन अन्तरङ्ग में श्रद्धान उसका निर्मल है अतएव झुकाव पर की ओर, कलुषता की ओर नहीं रहता है । यद्यपि पर का उपयोग करके और उस कलुषता में थोड़ा चलकर वह व्यग्रता कर रहा है ज्ञानी पुरुष किन्तु वहाँ कैसा दो धारावों का संगम है कि व्यग्रता होते हुए भी भीतर में व्यग्रता नहीं है, ऐसा होना एक कितनी आश्चर्य की और कठिन बात है? एक ही जीव में व्यग्रता भी लोट रही है और भीतर इसमें अव्यग्रता का भी साधन बना हुआ है ।

अज्ञानी का कादाचित्क अकालुष्य—कभी अज्ञानी जीव के भी अकलुषता का परिणाम हो जाता है । अब कषाय मंद हों उस समय में अज्ञानी पुरुष के भी उस चित्त में प्रसाद जगता है, लेकिन उसके अन्तर भीतर में व्यग्रता का सारा साधन पड़ा हुआ है और उसकी अव्यग्रता उसका चित्तप्रसाद यों समझिये, जैसे कोई पुरुष मांगे तो छाछ और दूध उसके समक्ष हाजिर कर दे तो जैसे वह पुरुष बड़ा प्रसन्न होता है, नम्रता दिखाता है और अपने मंद कषाय की मुद्रा बनाता है । ठीक है, लेकिन उस पुरुष में अन्तर में व्यग्रता की योग्यता पड़ी है और उस ही पुरुष को वह कभी मांगे दूध और दे-दे छाछ तब उस समय निरख लो । जो पुरुष प्रशंसा की बातें सुनकर बड़ी नम्र और बड़ी निष्कषाय जैसी बातें बनाया करता है क्या ऐसी बात उसमें वास्तव में है? इसका निर्णय करना हो तो जब कभी निन्दा अथवा गाली-गलौच की बात कही जाय तो उस घटना में परीक्षा हो सकती है । अज्ञानी मोही जीव के कभी इन कषायों का मंद उदय आने पर चित्त की अकलुषता रहती है, लेकिन अंतर में उसके मोहजन्य व्यग्रता पड़ी ही है ।

आत्मा की सात्त्विकी वृत्ति—आत्मा का स्वभाव क्रोध नहीं है । इसका तो सात्विक काम उत्तम क्षमा परिणतिरूप शुद्ध आत्मतत्त्व का सम्वेदन है । यह विषयरहित क्षमाशील शुद्धज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व का सम्वेदन करे, अनुभव करे कि मैं तो यह ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, यह है इस जीव की सात्विक वृत्ति । सात्विक शब्द का क्या अर्थ है? अपने ही सत्त्व में, अपने ही सत्त्व के कारण निरपेक्ष होकर जो बात जगे उसका नाम है सात्विक वृत्ति । व्यवहार में सात्विक रहन-सहन का अर्थ किया जाता हैं—कोई आडम्बर न होना, कोई विशेष पराधीनता की बात न लगाना उसे कहते हैं सात्विक रहन-सहन । यह अर्थ कहाँ से निकला? इसमें भी मर्म यह पड़ा है कि केवल तुम्हारे ही द्वारा तुम्हारी ही अधीनता से स्वतंत्र होकर तुम अकेले अपने आप जिस प्रकार रह सकते हो उस प्रकार रहना उसको कहते हैं सात्विक रहन-सहन । फिर व्यवहार में अर्थ उसका यह निकला कि परद्रव्यों का जितना आडम्बर हटे उसे कहते है सात्त्विक वृत्ति ।

सात्त्विकी कृत्ति में क्रोध मान का अभाव—इस जीव की सात्विक वृत्ति है क्षमारूप बने रहना । उस सात्विकता से अत्यन्त विरुद्ध बात है क्रोध करना । क्रोध जीव का भूषण नही है, कलंक है । मान कषाय भी जीव का कलंक है । मान कषाय में यह जीव अपना बड़प्पन चाहता है । किन्तु हे बड़प्पन चाहने वाले पुरुष ! जरा अपने आपके स्वरूप पर निगाह तो दे । तेरा यह शुद्ध आत्मतत्त्व निरहंकार है । केवल एक ज्ञानानन्द प्रकाश का ही अनुभवन करते रहने की तेरी प्रकृति है । निरहंकार शुद्ध

आत्मतत्त्व की उपलब्धि से अत्यन्त प्रतिकूल भाव है, यह मानकषाय । मान में आकर किसने शान्ति पाई? घमंड में आने पर जीव की बरबादी ही हुई ।

मान का कुफल—रावण का मानकषाय के कारण वध हुआ, ऐसी दुर्गति हुई और आज तक भी लोग उसको अपमान भरी दृष्टि से देखते हैं । हालांकि वह पंडित था, विवेकी था, बलवान था, धर्म की प्रभावना करने वाला भी था, पर सारे गुणों पर पानी फिर गया एक अभिमान में आकर । एक गल्ती हो गई थी, सीता को हर लिया था, पर उस गल्ती होने पर भी उसने गल्ती नहीं की । अपनी उस प्रतिज्ञा पर अडिग रहा कि जो परनारी मुझे न चाहेगी उसको मैं कुछ न कहूंगा, और सीता को लौटा देने का मन में निर्णय था । क्योंकि वह करे क्या? जब अपनी प्रतिज्ञा निभा रहा था तो सीता का क्या करना? लेकिन इसे इस तरह कैसे दे दिया जाय, मैं लड़ूं और राम पर विजय पा लूँ, फिर सौंप दूँ । इस मानकषाय के वश होकर उस पर क्या बीती? अपने भी जीवन में व्यवहार में दिन भर में जो कष्ट होते हैं उन कष्टों का प्राय: करके यह मानकषाय बहुत-बहुत कारण पडता है । चलना, बैठना, गोष्ठी में, इस जगहों में जरा-जरासी बात में मानकषाय जगती है, और अन्तर जल भुन जाता है । और ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसे फिर वचन निकलते हैं कि जिससे आपदायें ही बढ़ती हैं ।

सात्त्विकी वृत्ति में माया का अभाव—माया कषाय छल कपट के जाल में अपने आपको उलझा लेना, जैसे कहते हैं कि मकड़ी अपना जाल खुद पूरती है और उस जाल में फंसी रहती है । शायद वह अपनी रक्षा के लिए जाल पूरती हो और फंसी भी न रहती हो, जिस चाहे गली से चलकर निकल जाती हो, लेकिन उदाहरण यह है कि जाल पूरकर जाल में मकड़ी फंसी रहती है । उससे भी विकट परिस्थिति इस मायावी जीव की है । यह अपने आपकी कल्पनाओं में कितने ही जाल पुरता रहता है । यों कहना, यों करना, विरुद्ध-विरुद्ध बातों की कल्पनाएँ बनाकर उस जाल में यह बना रहता है । हैं आत्मन्! जरा अपने आपके स्वभाव की महिमा को तो निरखो । तू निष्प्रपंच है, बाह्य मायाजाल से भी रहित है । जो यह बनाव बन गया, शरीर में फंसा है, कर्मों से बँधा है, व्यग्रता कर रहा है । इस मायाजाल से भी रहित है और अंतरङ्ग में ज्ञातादृष्टा रहने के अतिरिक्त जितने भी विभाव हैं, भाव प्रपंच हैं उनसे भी तू रहित है । ऐसा प्रपंचरहित शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से विपरीत यह माया कषाय है जिसके तीव्र उदय होने पर चित्त में व्यग्रता उत्पन्न होती है और पापास्रव होता है ।

सात्त्विकी वृत्ति में लोभादिक प्रपञ्चों का अभाव—लोभ बाण के बिंधे हुए सभी मनुष्य सभी जीव अपने आप में बेचैनी का अनुभव किया करते हैं, जबकि ये समस्त बाह्य पदार्थ अत्यंत न्यारे हैं, उनसे

इस आत्मा का कुछ भी सम्बंध नहीं है । जैसे नन्हें-नन्हें बालकों का कुछ भी स्नेह नहीं है इस बड़े पर । वे तो अपने खेल में मस्त हैं । छोटे बच्चे तो अपनी बात में मस्त हैं, पर यह बड़ा पुरुष ही अपने मन में कल्पनाएँ बनाकर उन बच्चों के अधीन बन रहा है । कहाँ भागे, कहाँ जाय, कहाँ रहे, बन्धन ही बन्धन बना हुआ है । तो यहाँ वे बच्चे फिर भी चेतन हैं, लेकिन इन अचेतन पदार्थों के प्रति जो राग बन रहा है वे अचेतन तो थूलमथूल अपनी जगह पड़े हुए हैं, उनका कुछ भी आप पर आकर्षण नहीं है । वैभव, मकान, दूकान, धातु, सोना, चाँदी, कंकर, पत्थर ये आप पर कुछ प्रसन्न हैं क्या? ये थोड़ा बहुत आपको चाहते हैं क्या? आपके साथ कुछ लगाव रख रहे हैं क्या? वे तो अपनी जगह जड़ स्वरूप रखते हुए विराजे हुए हैं । यह लोभ कषाय वाला पुरुष अपने आप में कल्पनाएं उठा-उठाकर उन ज्वालावों में जलता भुनता रहता है ।

कालुष्य के अभाव में ही आत्महित—कषाय तृप्ति का प्रतिबंधक है, निर्दोष आनन्द का बाधक है । तृप्ति और सन्तोष तो शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना से ही उत्पन्न होते हैं । अपने स्वरूप को तो देखो । स्वरूप की भावना करने से एक अद्भुत आनन्द उत्पन्न होता है । तू लोभकषाय के वश होकर उस अद्भुत सहज स्वाधीन आनन्द को बरबाद कर रहा है । ये चारों कषायें इस जीव को संसार में भ्रमण के कारण हैं । ये कषायें न जगे तीव्र तो चित्त में जो प्रसाद रहता है वह पुण्यास्रव का कारण है । कभी-कभी अनन्तानुबंधी कषाय मंद होने पर यह चित्तप्रसाद अज्ञानी जीव के भी होता है और यह चित्तप्रसाद शुभोपयोग रूप है । तो जिस ज्ञानीजीव के निर्विकार निज अंतस्तत्व का अनुभव नहीं जग रहा है तब यह चित्तप्रसाद ज्ञानी जीव के रहा करता है खोटे ध्यान का परिहार करने के लिए।

गाथा १३९

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ।।१३९।।

पापास्रव का व्याख्यान—पुण्यास्रव के साधन का वर्णन करने के बाद इस गाया में पापास्रव का स्वरूप बताया जा रहा है । प्रमाद बहुल चर्या कलुषता की वृत्ति, विषयों में आसक्ति की परिणति और दूसरे जीवों का संताप उत्पन्न करने का परिणमन—ये सब अशुभ भाव हैं । ये पापकर्म का आस्रव किया करते हैं । ये अशुभभाव स्वयं पापरूप हैं । इनको यों निरखिये कि इस ध्रुव आत्मा से ये पापभाव निकले हैं और इस ध्रुव आत्मा से एक उपाधि के सम्बन्ध से पापभाव निकलकर ये इस जीव

के उपयोग में आये हैं । यों इस पापभाव का इस जीव में आस्रवण होता है और इस भाव का निमित्त पाकर जो पापप्रकृतियों का बन्धन होता है वह है द्रव्य पापास्रव ।

प्रमादबहुल चर्या—प्रमाद नाम है उसका जो भी परिणति आत्मा के शुद्धस्वभाव को ढकने वाला हो । एक जगह पड़े रहना, लेटे रहना इसका नाम इस प्रकरण में प्रमाद नहीं है किन्तु आत्मा का जो चैतन्य चमत्कार परिणमन है वह शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहे इस प्रकार का विशुद्धपरिणमन हैं उसका प्रतिबन्ध करने वाला जो विभाव है उसका नाम प्रमाद है । उस विभाव के वश होकर जो कुछ इस जीव की परिणति बनती हैं, मिथ्याचारित्र बनता है, विपरीत आचरण बनता है ये सब पापभाव हैं और द्रव्य पापकर्म का आस्रव करने का कारण है । मोक्षमार्ग में अनुत्साह होने का नाम प्रमाद है । जो जीव का विशुद्ध कर्तव्य है, कार्य है, सात्विक भाव है, उस भाव में आलस्य होना इसका नाम प्रमाद है । तो मोक्षमार्ग के कार्यों में अनुत्साह रहने का नाम है प्रमाद ! प्रमाद से पाप का आस्रव होता है।

विषयलौल्य और कालुष्य भाव—विषयों में आसक्ति का परिणाम होना विषय लोलुपता है जो कि आत्मसुख के सम्वेदन से अत्यन्त विरुद्ध है । विषय प्रवृत्तियों में किसी भी जीव ने सुखसाता नहीं पायी । विषयों से अतीत होकर ही आत्मा को वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है । शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहे इस स्थिति में ही उसे विशुद्ध आनन्द प्राप्त होता है । उस आनन्द से प्रतिकूल विषयों की लीनता का परिणाम हो तो यह विषय लोलुपता का परिणाम स्वयं पापरूप है और द्रव्य पापकर्म के आस्रव का कारण है चित्त में कलुषता का होना, जिसका विशेष वर्णन पूर्व गाथा में आया है ।

परिताप व अपवाद—पापास्रव के परिणाम आत्मस्वभाव से अत्यन्त प्रतिकूल है । आत्मा का स्वभाव तो कलुषता रहित जैसा स्वयं सहज अपने आप स्वभाव पड़ा हुआ है, चैतन्यभाव है, उस चैतन्यभाव में चैतन्यभाव का परिणमन होना, विशुद्ध चमत्कार होना अर्थात् केवल जाननहार रहना, इस स्थिति से अत्यन्त विपरीत भाव है । यह कलुषता का परिणाम पापभाव है और द्रव्य पापास्रव का कारण है । यों ही दूसरे जीव का अपवाद करना, दूसरे जीव का परिताप करना—ये दोनों भी जीवस्वभाव से अत्यन्त विपरीत हैं । आत्मा का स्वभाव निरपवाद है, अपने आपके अनुभव करने का है, उसमें विशुद्ध आनन्द है । उससे उल्टा जो भी भाव है यह सब भाव अशुभ है । स्वयं पापरूप है और द्रव्य पाप के आस्रव का कारण है ।

गाथा १४०

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ।।१४०।।

भावपापास्रव का वर्णन—इस गाथा में पापकर्म के आस्रव का कारणभूत भावपापास्रव का वर्णन किया है । संज्ञायें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामक ४ प्रकार की वासनाएँ और कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या—ये तीन लेश्याएँ इन्द्रिय के विषयों के अधीन रहने का परिणाम चार प्रकार के आर्तध्यान और चार प्रकार के रौद्रध्यान तथा बहुत प्रकार से प्रयोग किए हुए उपयोग और मोह ये समस्त विभाव पाप को उत्पन्न करने वाले होते हैं ।

संज्ञाओं से पापास्रव—तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई जो आहार, भय, मैथुन परिग्रह की संज्ञायें हैं ये पापभाव को उत्पन्न करती हैं । यद्यपि आहारसंज्ञा छठे गुणस्थान तक है, भय ८वें गुणस्थान तक है, मैथुन ९वें गुणस्थान तक है, परिग्रह संज्ञा १०वें गुणस्थान तक है, और इस दृष्टि से कुछ ऐसी आशंका हो सकती है, तब क्या मुनियों के भी पाप का बंध होता रहता है? इसके उत्तर में दो बातों पर ध्यान दीजिए विशेषतया । तीव्र मोहनीय कर्म के साथ ये संज्ञाएँ होती हैं तो पापबंध के कारण बनती हैं । दूसरी बात यह है कि संज्ञावों का जो स्वरूप है उस स्वरूपदृष्टि से देखा जाय तो उन मुनियों के ये संज्ञायें भी किन्हीं जघन्य अंशों में पायी जाती हैं और विशेष अंशों में शुभ परिणाम शुद्ध परिणाम वैराग्य भाव भी पाया जाता है । तब जितने अंश में संज्ञावों का कार्य है उतने अंश में पाप का बंध है और जितना यह विशाल क्षेत्र सम्वेग और वैराग्य का है उतना उनके पुण्यास्रव और सम्वर, निर्जराएँ चलती हैं, पर यह न कहा जायगा कि आहार संज्ञा पुण्यबंध कराती है या भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा पुण्यबंध का कारण है । भले ही ९९ प्रतिशत पुण्यास्रव वाले के एक प्रतिशत पापास्रव हो तो कुछ मालूम न हो, लेकिन जिस भव की जो प्रकृति है उस भाव से उस ही प्रकार का कार्य होता है । तो ये संज्ञाएँ पापास्रव के कारणभूत हैं ।

अशुभलेश्याओं से पापास्रव—कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योग के प्रवर्तन में हुआ करती हैं, अतएव ये तीन अशुभ लेश्याएँ पापास्रव कराने वाली हैं । ज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के भी पीतपद्मशुक्ल लेश्याएँ चल रही हों तो चूंकि वे शुभ लेश्याएँ हैं, शुभ परिणाम का सम्बन्ध है, उनके भी पुण्य का आस्रव हो जाता है और कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीव के भी जैसे कि

चतुर्थ गुणस्थान तक कृष्ण नील कापोत लेश्याएँ सम्भव हैं । ये लेश्याएँ हैं तो इसके कारण उनके भी पाप का आस्रव चलता है । लेकिन साथ में कर्मों का विध्वंस करने में समर्थ सम्यग्दर्शन का परिणाम होने से अन्य बातें भी, शुभ बातें भी अन्त: बनी रहती हैं, अतएव उस पाप का प्राबल्य नहीं होता है । ये तीन लेश्याएँ पापास्रव के कारण हैं । यह आत्मतत्त्व कषाय और योग दोनों से शून्य है । न इसमें कषाय करने का स्वभाव है और न इसमें हलन-चलन करने का स्वभाव है । अतएव विशुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप है । उससे भिन्न और कषाय के उदय से रंजित योग प्रवृत्ति रूप ये तीन लेश्याएँ इस जीव के पापरूप हैं, पाप के कारण हैं और जीव के शुद्ध प्राणों का घात करने वाली हैं ।

आत्मदृष्टि का अनुरोध—भैया ! इस जीव पर जो वास्तव में आपदा आ रही है उस पर तो यह मोही प्राणी दृष्टि नहीं देता और जिन पदार्थों से रंच भी सम्बन्ध नहीं है उन बाह्यपदार्थों के रहने या न रहने को विपदा मानता है । और ऐसी मुग्ध दशा में फिर उन विपत्तियों से बचने का जो भी उपाय करता है वह उल्टा ही करता है । किसी क्षण अपने स्वरूप की खबर लो । जैनशासन पाने का तो यही लाभ है । रोज-रोज २४ घंटे में १०-५ मिनट विशुद्ध हृदय से सम्यग्ज्ञान का प्रयोग करते हुए अपने आपके आनन्दघन निर्बाध कल्याणमय परमात्मतत्त्व की सुध ले लिया करें, इससे बढ़कर अन्य कुछ समृद्धि नहीं है । इसकी सुध बिना कषायों के तीव्र उदय से जो प्रवृत्तियाँ होती हैं उन प्रवृत्तियों से पाप का आस्रव होता है ।

विषयाधीनता से पापास्रव—पञ्चेन्द्रियों के विषयों के अधीन बन जाना यह भी पापास्रव का कारण है । आत्मा की शुद्ध परिणति तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेते रहें इस प्रकार की है और यह आनन्द स्वाधीन है । वह आनन्द है क्या? जो दुःख होते हैं उन दुःखों को न करें, आनन्द तो हाजिर ही है । जो केवल दुःख के कारण हैं, दुःख स्वरूप हैं, ममता और मोह से मिले हुए हैं उन परिणतियों से हट जाय, आनन्द तो स्वयमेव बना ही हुआ है । स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में बाधा देने वाली यह पञ्चेन्द्रिय के विषयों की अधीनता है वह पापकर्मों का आस्रव कराती है । इन्द्रिय विषयों की लीनता आसक्ति चाह स्वयं पापपरिणाम है और ऐसे पापपरिणाम के समय पापप्रकृतियों का ही बन्ध होता है ।

आर्तध्यान से पापास्रव—इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाप्रभव और निदान ये ४ प्रकार के आर्तध्यान ये शुद्ध चैतन्य की भावना का विनाश करने वाले हैं । कल्याणार्थी पुरुषों को चाहिए तो यह कि अपनी भावना निर्दोष इच्छारहित ज्ञायकस्वरूपमात्र की बनाएँ । इस ही में परमकल्याण है । उस

भावना का एकदम घात कर देने वाले ये ८ प्रकार के ध्यान है—४ आर्तध्यान और ४ रौद्रध्यान । जिस समय इष्ट के वियोग हो जाने पर उस इष्ट भूत परपदार्थ की ओर चित्त का आकर्षण रहता है उस आकर्षण के समय इस विशुद्ध चैतन्य की भावना कहाँ रह सकती है? किसी अनिष्ट का संयोग हुआ हो अथवा किसी बैरी पुरुष का समागम हुआ हो तो उस कलामें' कितनी अंतरंग में बेचैनी रहती है? इसका कैसे शीघ्र विनाश हो, कैसे टले, उसके वियोग की भावना जहाँ बनी रहती हो वहाँ शुद्ध चैतन्य की सुध करने का कहाँ ख्याल रह सकता है? शारीरिक रोग होने पर उस रोग पर ही दृष्टि रहे, यह और बढ़ न जाय, यह रोग मिटेगा कि नहीं, हाय ! मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है, मैं बरबाद हो रहा हूँ, मैं बहुत दुर्बल हो गया, यों इस देह के प्रति भावना रहे तो ऐसे ख्याल के समय विशुद्ध चैतन्य की भावना कैसे हो सकती है, और निदान जो आर्तध्यान का सबसे खोटा ध्यान है, जब किन्हीं इन्द्रिय विषयों के उपभोग की आकांक्षा रहती है तो उस चाह के समय में चैतन्यस्वरूप की भावना कहाँ रह सकती है? निदान नामक आर्तध्यान एक दुष्ट आर्तध्यान है और यह पंचम गुणस्थान तक ही बनाया गया है । छठे गुणस्थान में निदान का अंश नहीं रहता और पंचम गुणस्थान में शुभरूप से निदान चलता है । मुझे परभव में भी धर्म का समागम मिले, अच्छी जाति कुल में उत्पन्न होऊँ, इस धर्म का वियोग न हो, ऐसे शुभ ध्यान होते हैं उन्हें भी निदान ही बताया है । ये भी करने योग्य नहीं कहे गए हैं । ये ४ प्रकार के आर्तध्यान पापास्रव के कारणभूत हैं ।

रौद्रध्यान से पापास्रव—हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, विपयसंरक्षणानन्द नाम के ४ रौद्रध्यान ये क्रूर चित्त में उत्पन्न होते हैं । भला कोई किसी को मार रहा है और उस हिंसा को देखकर आनन्द माने अथवा स्वयं हिंसा करता हुआ आनन्द माने यह कितनी क्रूरता की बात है? किसी की झूठ चुगली करके, झूठ बोलकर, झूठी गवाही देकर आनंद मानना, जिसके प्रति झूठ बोला गया है उसका चित्त किसी प्रकार विह्वल हो रहा, इसकी ओर सुध नहीं है, बल्कि उसकी विवशता निरखकर और आनन्द मानता है, ऐसे झूठ में जिससे आनन्द माना है उस जीव का कितना क्रूर चित्त है, इसी प्रकार चोरी की प्रवृत्ति, चाहे मजाक समझ लीजिये या कुछ सत्य का प्रतीक समझ लीजिए, लोग इस धन को ११वां प्राण कहा करते हैं । प्राण तो १० ही होते हैं । धन कोई प्राण नहीं है, मगर ११वां प्राण बता दिया । ऐसे परधन को कोई चुराये, उसके चुराने का उपाय बताये और इसमें ही रुचि रहा करे, ऐसे चौर्यानन्द रौद्रध्यान वाले का चित्त कितना क्रूर है, और विषयसंरक्षणानन्द की बात देखिये—अपने इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों के संरक्षण करने में जो आनन्द मानता है उसने दूसरे को तो ओझल ही कर दिया है, खुद की ही गरज निभानी चाही है, अपने-अपने ही मतलब का जो विषयसंरक्षण किया जा रहा है उसमें भी चित्त क्रूर रहता है । इस क्रूर चित्त में उत्पन्न हुआ यह ४ प्रकार का रौद्रध्यान

पापकर्मों के आस्रव का कारण है और यह स्वयं भाव पापरूप आस्रव है । यह क्रूर परिणाम इस निर्दोष शुद्ध आत्मानुभूति की भावना नहीं करने देता।

दुःप्रयुक्त ज्ञान से पापास्रव—आस्रव पदार्थों के प्रकरण में पुण्यास्रव ही का पहिली गाथावों में वर्णन करके इसके पूर्व गाथा में और इस गाथा में पापास्रव का वर्णन किया जा रहा है । शुभ और अशुभोपयोग को छोड़कर अन्य साधनों में इष्ट भावों में या हुआ जो ज्ञान है उसे कहते हैं दुःप्रयुक्त ज्ञान । मिथ्यात्व और रागादिक भावों के अधीन होने से जो खोटे विषयों में ज्ञान उलझता है वहाँ उपयोग का आकर्षण रहता है अर्थात् अशुभोपयोग रहता हैं, वह अशुभोपयोग स्वयं पापरूप है और पापप्रकृति के आस्रव का कारण है । अशुभोपयोग पापरूप है, शुभोपयोग पुण्यरूप है और शुद्धोपयोग पाप-पुण्य से रहित अशुद्ध वर्तनारूप है । दुष्प्रयुक्त ज्ञान में शुद्ध तत्त्व की दृष्टि नहीं और शुभ कार्य की भी प्रवृत्ति नहीं । वहाँ तो विषयकषायों के अधीन होकर यह कुमार्ग में लगा रहता है । यह अशुभोपयोग पाप को उत्पन्न करने वाला है ।

मोह से पापास्रव—मोह दो प्रकार का होता है—एक दर्शनमोह और एक चारित्रमोह । दर्शनमोह के उदय से तो दृष्टि का व्यामोह हो जाता है, शुद्ध परख नहीं रह पाती । 'मैं क्या हूँ' इसकी वास्तविक सुध नहीं है । पर को मैं माने और मैं की सुध नहीं रहे, ऐसी कुदृष्टि दर्शनमोह में हो जाया करती है । यह दर्शनमोह पाप को ही उत्पन्न करने वाला है । चारित्रमोह अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं, अनेक विभिन्न आचरण होते हैं । यह चारित्रमोह भी स्वसम्वेदन का विनाश करने वाला है । ये दोनों प्रकार के मोह पापपरिणाम को उत्पन्न करने रूप हैं और पापप्रकृतियों को उत्पन्न करते हैं । यह सब विभाव परिणामों का समूह पापों को उत्पन्न करने वाला है । इस प्रकार पापास्रव के प्रकरण में इतनी बातों को इस गाथा में कहा है । संज्ञायें, अशुभलेश्या, इन्द्रियवशता, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, अशुभविकार, दर्शनमोह, चारित्रमोह—ये पापपरिणाम को उत्पन्न करते हैं ।

गाथा १४१

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठमग्गम्मि ।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पापास्रवं छिद्दं ।।१४१।।

संवर पदार्थ का आख्यान—अब सम्वर पदार्थ का व्याख्यान हो रहा है । आस्रव पदार्थ के वर्णन

के समय २ प्रकार के आस्रव कहे गए थे—एक पापास्रव और एक पुण्यास्रव । इनमें से पुण्यास्रव का तो वर्णन पहिले किया था और पापास्रव का वर्णन बाद में किया गया था, ऐसा वर्णन करने का एक व्यावहारिक कारण यह हो सकता है कि सबसे पहिले इन जीवों मे पुण्यास्रव की बात सुनायें और जिसमें कुछ चित्त लगे । जिस बात को सुनते हैं उस तरह का उपयोग भी तो कुछ-कुछ बनाना पड़ता है । तो पुण्यास्रव की ही बात जब पहिले बतायी गयी है तो उस तरह का कुछ अपना दिमाग भी बनाया गया था और उस स्थिति में विशुद्ध भाव, सन्तोष भाव, धर्म की प्रीति ये सब बातें उत्पन्न हुई हैं । फिर पापास्रव त्यागने योग्य है, इस बात का वर्णन किया है ।

पापास्रव के संवर की प्राथमिकता—अब संवर पदार्थो के वर्णन के प्रसंग में सबसे पहिले पापास्रव का संवर बतला रहे हैं । इसमें भी यह कारण हो सकता है कि इस गाथा से पहिले चूँकि पापास्रव का वर्णन है तो अनन्तर होने के कारण पाप का ही संवर एकदम बता दिया गया है । दूसरा कारण यह है कि पाप का संवर प्रथम ही होना जरूरी है । इससे पाप संवर को प्राथमिकता दी गई है । पापकर्म रुके तो सद्बुद्धि जगे और यह धर्मपथ में आगे चले तो फिर आगे पुण्य का भी संवर कर के यह शुद्धमार्ग में एकदम बढ़ जायगा । और उपदेश भी यही है कि पाप को पहिले रोको और बाद में स्वाधीन होकर दृढ़ बनकर फिर पुण्य को भी रोके और यों पाप पुण्य दोनों से रहित होकर शुद्ध आनन्द का अनुभव करो ।

संवरपद्धति—पाप और पुण्य दोनों को एकदम रोकने को किसी भी प्राथमिक प्राणी को उपदेश नहीं किया गया है । कुछ समझ तो बने, कुछ पाप तो मंद हो, उस पुण्य पवित्र क्रिया के प्रसाद से ये पातक तो कम हों, फिर पाप पुण्य दोनों का भी संवर करो और किसी को ऐसा भी नहीं कहा गया कि पहिले पुण्य का तो संवर कर लो, पीछे पाप को रोकना । ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता । वहाँ लग रहा है बड़ा अच्छा । पुण्य का रोकना बड़ा आसान लग रहा है । पहिले पुण्य को खतम करो, पाप को पीछे देखना । यह तो सब जीवों को आसान लग ही रहा है । यह कोई सिद्धि की बात नहीं है । इन्हीं सब कारणों से इस गाथा में प्रथम ही पाप के संवर का वर्णन किया गया है ।

पापास्रव छिद्र का निरोध—जिन प्राणियों ने इन्द्रिय मन कषाय और संज्ञा—इन सबको इस संवर मार्ग के लिए अथवा संवर मार्ग में रोक दिया है तब उनके पापास्रवरूपी छिद्र आच्छादित हो गया है, ऐसा समझिये । मार्ग तो यह संवर है । उस संवरभाव का निमित्त क्या है? जितने अंशों में जितने काल तक ये इन्द्रियां कषायें संज्ञायें रुद्ध हो जाती हैं इनका निग्रह हो जाता है उतने अंश में उतने

काल तक पापास्रव का द्वार बंद हो जाता है । इन्द्रियाँ ५ हैं और एक मन अन्तरंग की इन्द्रिय हैं, इन ६ का विषय कई बार वर्णन में आ चुका है । क्रोधादिक कषायें, आहार आदिक संज्ञाएँ ये भाव पापास्रव हैं और ये द्रव्य पाप के आस्रव के कारण हैं । जब यह भाव पाप रुक गया तो द्रव्यपाप कहाँ से आयगा? जैसे नाव में छिद्र है जिससे नाव में पानी भर रहा है तो सबसे पहिले छिद्र रोका जाता है, फिर पानी उलीचा जाता है । तो इस भावपाप का निरोध कर देना यही है भावसंवर । यह संवर द्रव्यपाप प्रकृतियों के संवर का कारणभूत है । कर्तव्य बताया गया है इसमें कि तुम ऐसा ज्ञान बनावो जिससे यह भाव पाप समाप्त हो जाय । इस संवर के मार्ग से ही हम आपको शान्ति की प्राप्ति होगी ।

गाथा १४२

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।।१४२।।

आस्रव की अपात्रता—जिस आत्मा के रागद्वेष और मोह नहीं हैं, किसी भी विषय में जिस जीव के शुभ और अशुभ कर्मों का आस्रव नहीं होता ऐसा योगी रागादिक दोषों से रहित शुद्धोपयोग के कारण तपस्वी है, तपोधना है । यह आत्मा सर्वप्रकार के शुभ अशुभ संकल्पों से रहित शुद्ध आत्मा के ध्यान से उत्पन्न हुए सहज आनन्दरस का भोगने वाला होता है और इस आनन्दामृत की अनुभूति से उत्पन्न हुई तृप्ति के कारण यह सुख और दुःख में समान है । इसमें सुख दुःख हर्ष विषाद आदिक विकार अब प्रकट नहीं होते हैं । ऐसे शुद्धोपयोगी जीव विरक्त ज्ञानी साधुसंत पुरुष जिनको केवल अपने स्वरूप की रुचि है, रुचि क्या, इस स्वरूपमात्र मैं हूँ, इस प्रकार का जो अनुभव करते हैं बस वे ही समस्त संकटो के दूर रहते हैं । जिस जीव को अपने आपके सम्बन्ध में एतावन्मात्र मैं हूँ, ज्ञानप्रकाश मैं हूँ, ऐसा बोध नहीं रहता है उसकी बाह्य में दृष्टि जगती है और उस बाह्य दृष्टि में यह क्षुब्ध बना रहता है ।

सुख दुःख के कारणों में समानता—ज्ञाता आत्मा के समस्त परद्रव्यों में न राग है, न द्वेष है, न मोह है, केवल निर्विकार चैतन्यस्वरूप उपयोग में है, वह सुख दुख में समान है । जो जीव सुख और दुःख को एक समान देखता है उसके यह भी श्रद्धा है कि पुण्य का कारणभूत शुभोपयोग और पाप का कारणभूत अशुभोपयोग ये भी समान हैं । यद्यपि अपेक्षाकृत इनमें अंतर है ।अशुभोपयोग से शुभोपयोग कुछ एक शान्ति और धर्म का वातावरण उत्पन्न करने वाला है, किन्तु निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप के

समक्ष ये दोनों प्रकार के उपयोग इसके प्रतिपक्ष हैं । यों पुण्य पाप भाव में, पुण्य पाप कर्म में और सुख दुःख में जिसके समानता की बुद्धि उत्पन्न हुई है ऐसे पुरुष के न पुण्य का आस्रव होता है और न पाप का आसव होता है, किन्तु एक संवररूप ही दशा रहती है ।

भावसंवर—यहाँ यह जानना कि मोह रागद्वेष वीतराग न होने रूप शुद्ध चैतन्यप्रकाश का नाम भावसम्वर है और भावसम्वर का निमित्त पाकर शुभ अशुभ कर्म परिणाम भी जो रुक जाते हैं वे द्रव्यसम्वर हैं । द्रव्यसम्वर पर इस आत्मा का वश नहीं है, किन्तु वह तो स्वयं होता ही है । यह आत्मा भावसम्वर का करने वाला है । यह आत्मा एक ज्ञानस्वरूप है, यह अपने ज्ञान का उपयोग बाह्य को अपनाने का न करे और अंत:स्वरूपमात्र मैं हूँ ऐसी अपनी व्यवस्थित बुद्धि बनाये तो उसके सम्वरभाव प्रकट होता है ।

द्वितीय गुणस्थान से संवर का प्रारम्भ—जिस गुणस्थान में जितने अंश में सम्वरभाव प्रकट होता है उस गुणस्थान में उस-उस प्रकार से कर्म प्रकृतियों का बंध रुक जाता है । जैसे दूसरे गुणस्थान में १६ प्रकार की प्रकृतियों का बंध नहीं होता, मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरक आयु—इन १६ प्रकृतियों का बंध दूसरे गुणस्थान में नही होता, सम्वर है । यद्यपि यह द्वितीय गुणस्थान सम्यक्त्व से गिरने पर होता हैं और उसके अयथार्थ भाव है, अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है, किन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न होने के कारण वहाँ १६ प्रकृतियों का बंध नहीं होता ।

उपरितन गुणस्थानों में संवर का क्रम—तीसरे गुणस्थान में २५ प्रकृतियाँ और भी बंध से रुक जाती हैं और ये १६ और २५ मिलकर ४१ प्रकृतियाँ चौथे गुणस्थान में भी नहीं बँधती हैं । इन २५ प्रकृतियों में अप्रत्याख्यानावरण कषाय आदिक वे प्रकृतियाँ हैं जो अनन्तानुबंधी कषाय के उदय के कारण बँधा करती थी । तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उदय नहीं है । इस कारण अनन्तानुबंधी के उदय से होने वाली प्रकृतियों का सम्वर हो जाता है । पंचम गुणस्थान में १० प्रकृतियों का बंध और रुक जाता है । आगे देखिये छठवें में ४ का, ७वें में ६ प्रकृतियों का, ८वें में ३६ का, १०वें में ५ का, १२वें में १६ का व योगियों के १ का बंध और रुक जाता है।

द्रव्यसंवर—इस प्रकार जहाँ जैसा शुद्धोपयोग प्रकट हो वहाँ उतनी प्रकृतियों का बंध रुक जाया

करता है। यह है द्रव्यसम्वर। और कर्मप्रकृतियों के बंध रुक जाने का कारणभूत जो शुद्ध भाव है वह है भावसम्वर। इस गाथा में शुभ और अशुभ परिणामों का सम्वर करने में समर्थ शुद्धोपयोग को भावसम्वर बताया है और भावसम्वर के आधार से जो नवीन कर्मों का बन्ध रुक जाता है उसे द्रव्यसम्वर कहते है।

गाथा १४३

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहक दस्स कम्मस्स।।१४३।।

शुभाशुभ कर्मों का संवरण—जिस विरत पुरुष के मन, वचन, काय में अशुभ परिणाम और शुभ परिणाम नहीं है उस मुनि के शुभ अशुभ भावों से उत्पन्न होने वाले कर्मों का संवर हो जाता है। संवर नाम है आस्रव के रुकने का। आस्रव का द्वार है मन, वचन, काय—इन तीन योगों की प्रवृत्ति। आना और बँधना—दो काम हुआ करते हैं। आने में कारण है योग और बँधने में कारण है कषाय। तो योगी पुरुष की कषाय मंद रहती है और गुप्ति का यत्न रहता है। मन का वश में करना मनोगुप्ति, वचन का वश में करना वचनगुप्ति और काय का वश में करना कायगुप्ति। इन युक्तियों के बल से आस्रव का निरोध होता है।

योग का परिणाम—व्यवहार में भी हम देखते हैं। चुपचाप बैठे रहें, मत बोलें तो वहाँ आपत्ति का जाल नहीं होता और कुछ बोलें तो उन वचनों से आपत्ति का जाल आने लगता है। भले ही कोई आपत्ति रागरूप हो, कोई आपत्ति द्वेषरूप हो, पर बोलने के बाद क्षोभ तो होता ही है। यों ही रहो, कुछ मत सोचो कोई विपदा नहीं है। जहाँ मन में सोच विचार हुआ, कल्पना जगी वहाँ ये सब विपदायें आने लगती हैं। ऐसे ही शरीर से कोई प्रवृत्ति नहीं कर रहे, सम्यग्ज्ञान पूर्वक काय का निरोध किया जा रहा है वहाँ विपदा काहे की। जहाँ इस देह से कोई प्रवृत्ति की, कुछ कार्य किया, इष्ट अथवा अनिष्ट कल्पनाएं जगी, लो इससे उसके अन्त: क्षोभ रहता है और बाहर में किसी पुरुष को अपनी काय चेष्टा पसंद आये, किसी को न पसंद आये तो पर की ओर से भी विपदा हो जाया करती है। यह तो व्यावहारिक बात है।

मानसिक योग का फल—अब जरा अन्त: निरखिये—यहाँ मन में कुछ भी हलन-डुलन हो वहाँ कम्र आ जाते हैं। वचन से कुछ भी परिस्पंद हुआ वहाँ कर्म आ धमकते हैं। ऐसे ही शरीर की प्रवृत्ति

से योग हुआ वहाँ कर्म आ धमकते हैं। यहाँ तथ्यभूत बात यह जानना कि मन, वचन, काय की हलन से कर्म नहीं आते, किन्तु मन, वचन, काय की हलन से उसका निमित्त पाकर आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंद होता है और आत्मप्रदेशों के परिस्पंद के निमित्त से कर्म आते हैं । कर्म आने का कारण है योग और योग होने का कारण है मन, वचन, काय की प्रवृत्ति । जो योगी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से निवृत्त है, कषायों से दूर है, शुभ परिणाम रूप पुण्यभाव को अथवा अशुभ परिणामरूप पापभाव को नहीं करता है उस जीव के उस समय शुभ अशुभ कर्म द्रव्यकर्म का संवर स्वयं हो जाता है ।

परिणामों की संभाल का कर्तव्य—भैया ! अपने को करने का काम अपने परिणामों की सम्हाल है और वास्तविक ढंग से यदि अपने परिणामों की सम्हाल हो सकी तो वहाँ फिर संकट माने जाते हैं । वे सब संकट तभी तक हैं जब तक अपने परिणामों की सम्हाल नहीं है । एक अध्यात्मक्षेत्र की बात कही जा रही है । घर का क्या होगा, बच्चे कैसे रहेंगे, गांव में पोजीशन क्या रहेगी, क्या स्थिति बनेगी, ये सारे विचार जब चलते हैं तो उपयोग में संकट हैं । लगता भी ऐसा कि बात सच है । घर के बच्चे हमारे ही तो अधीन हैं, लेकिन अध्यात्मक्षेत्र की ओर से इसका समाधान ले तो अपने परिणामों की सम्हाल कर लें तो वे कोई संकट रह सकेंगे क्या? जब अध्यात्म की अनुभूति चल रही है तो पहिली बात तो यही है कि परिजन का विकल्प भी वहाँ नहीं ठहरता, संकट काहे का, और मानो अध्यात्म की अनुभूति हो तो चुकी, पर इस समय नहीं है, इस समय परिजनों के प्रति ध्यान ही हो रहा है तो वहाँ भी संकट कम हैं, क्योंकि अन्त: यह प्रतीति पड़ी हुई है कि प्रत्येक जीव स्वयं अपने-अपने स्वरूप से सत् है और उन जीवों के साथ उनके कर्म लगे हुए हैं, वे सुरक्षित रहते हैं, अपने-अपने कर्मों के कारण संसार में सुरक्षित रहते हैं।

पुण्यवंतों की चिन्ता का नाटक—भला छोटे-छोटे बालक, बच्चे जो न आपको कमाकर खिला सकें, न किसी काम आ रहे हैं, दो-दो, चार-चार, छ:-छ: वर्ष के बच्चे कुछ आपकी सेवा भी नहीं कर रहे हैं, पर आप उन बच्चों की कितनी प्रीतिपूर्वक सेवा करते हैं? गोद में ले, खिलायें, उनका मन रखें, उन्हें प्रसन्न देखना चाहें, क्या इच्छा है उसकी पूर्ति का बड़ा यत्न करें तो हमें आप यह बतलावो कि पुण्य किसका विशेष है? सेवा करने वाले जो आप हैं, आपका पुण्य बड़ा है या उन छोटे बच्चों का पुण्य बड़ा है? छोटे बच्चों का पुण्य विशेष है । जिससे आप भी उनकी उतनी सेवा करते हैं । और फिर दूसरे ये बालक पूर्वभव के पुण्य के प्रसाद से यहाँ मनुष्यभव में आये हैं, इन्होंने अभी बड़ी उम्र नहीं पायी, इनमें विकार उद्दण्ड नहीं हुए, कषायें अभी इनमें विशेष जागृत नहीं हुईं, रागद्वेष मोह की प्रबलता, कषायों की प्रबलता इनमें अभी नहीं हुई तो इनका पुण्य आप से विशेष है । बड़ों ने बड़ी

उम्र पाकर बहुत-बहुत से विकल्प बना डाले, उससे कुछ आज हीनता है तो बतलावो ये पुण्यवान बालक जो तुम से अधिक सुरक्षित हैं उनका भाग्य अच्छा है या आपका? भाग्य तो उन बालकों का ही अच्छा है । देखो तो गजब, समर्थों की चिन्ता की जा रही है । तीसरी बात यह है कि जिस जीव के जिस समय जिस विधि से जो होने को है उसमें हम आप क्या फर्क डाल सकेंगे? तब अन्य चिन्ताओं से सिद्धि क्या है?

भावसंवर के अधिकार का प्रयोग—यह ज्ञानी सत्पुरुष अपने स्वरूप की सम्हाल के कारण निराकुल रहा करता है । तब प्रधान बात क्या हुई? कर्मों में जो होना है वह कर्मों के कारण होगा, निमित्तनैमित्तिक भावों में हो जायगा, पर प्रधान बात है आप, अपने शुभाशुभ परिणामों का निरोध करें । भावसम्वर और द्रव्यसम्वर इन दोनों सम्वरों में आपका अधिकार भावसम्वर पर है । अपने परिणामों की सम्हाल करने से ही सब काम अपने आप आटोमैटिक स्वयं हो जाते हैं—कल्याण के लिए जो कुछ चाहिए । तब द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप के सम्वर का कारणभूत यह भावपुण्य सम्वर और भावपाप सम्वर प्रधान है । हम अधिकाधिक अपने आपको इस प्रकार से निहारने का यत्न करें कि यह मैं आत्मा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ, अमूर्त हूँ, देहादिक से भी जुदा हूँ, इन समस्त बाह्य परिग्रहों से भी जुदा हूँ । केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ ।जब कभी व्यवहार के विकल्प उठें, हाय यह घर छूटा जा रहा है, अरे तो क्या हुआ, दूसरे घर पर पहुंचेंगे । परिणामों की सम्हाल है तो इससे बढ़िया स्थानपर पहुंचेंगे । यह वैभव छूटा जा रहा है । अरे अपने आपके परिणामों की सम्हाल करो, यही है वैभव पाने की कुञ्जी । वह अपने हाथ है तो उससे भी कई गुना वैभव भागे मिलेगा । एक अपने आपके एकत्वस्वरूप को यह जीव देखे तो इसके व्याकुलता नहीं रह सकती है । मोह क्षोभ से रहित आत्मा के शुद्ध परिणामों का नाम है सम्वर तत्व ।

गाथा १४४

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे वहुविहेहि ।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ।।१४४।।

कर्मनिर्जरण—संवर और शुद्धोपयोग से सहित जो पुरुष नाना प्रकार की तपस्यावों से अपने आप में चैतन्य प्रतपन करते हैं वे पुरुष निश्चय से बहुत से कर्मों की निर्जरा करते है । इस गाथा में निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान किया गया है । संवर नाम है शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के परिणामों के निरोध

हो जाने का । परिणामों का निरोध टक्कर से नहीं हुआ करता । जैसे अशुभ परिणाम का निरोध शुभपरिणाम से किया गया तो अशुभ परिणाम और शुभ परिणाम इन दोनों में भिड़न्त हुई हो और फिर शुभोपयोग से अशुभोपयोग को हटाया हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जीव के एक समय में एक उपयोग होता है । जिस काल में इस जीव के शुभोपयोग परिणाम हो रहा है उस काल में अशुभोपयोग का अभाव है और यों सत्त्व में आकर शुभोपयोग ने अशुभोपयोग का निरोध किया—यों कहा जाता है । जैसे अंगुली सीधी है अब इसे टेढ़ी करें तो इस टेढ़ी पर्याय ने सीधी पर्याय का निरोध कर दिया । पर सीधी पर्याय और टेढ़ी पर्याय में भिड़ंत नही, हुई और इस टेढ़ी पर्याय ने सीधी पर्याय हटायी हो ऐसी भी बात नहीं है, किन्तु एक समय में कोई एक परिणमन होता है । जब इस अंगुली की टेढ़ी परिणति हुई तो सीधी परिणति अपने आप रुक गई । यों इस जीव के जब शुभोपयोग हुआ तो अशुभोपयोग रुका हुआ है, शुद्धोपयोग ढका हुआ है । जब जीव के शुद्धोपयोग प्रकट हुआ तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों का अभाव हुए । यह तो है संवर और यह संवर ही है शुद्धोपयोग ।अथवा संवर में नास्तिरूप से वर्णन है और शुद्धोपयोग में अस्तिरूप से वर्णन है ।

तपश्चरणों में अनशनतप का प्रयोजन—शुद्धोपयोग से युक्त साधु के जब ६ प्रकार के बहिरंग तपों से और ६ प्रकार के अन्तरङ्ग तपो से जो कि अपने अन्तर्गत अनेक रूप है, जब तपश्चरण रूप प्रवर्तन होता है तो बहुत से कर्मों का निर्जरण हो जाता है, कर्म अकर्मरूप हो जाते हैं, कर्मों की स्थितियां घट जाती हैं । वे १२ प्रकार के तप क्या हैं? एक चैतन्य में प्रतपन करने के साधन हैं । जिस साधु ने अनशन व्रत लिया है उस साधु का यह ध्यान है कि मेरे आत्मा का स्वभाव ही अनशन है अर्थात् भोजन न ग्रहण करना है और यह आत्मा जब अनशन स्वभाव में रहता है अर्थात् अनशन दोषों से बरी हो जाता है, अरहंत अथवा सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है तो यही है उसकी व्यक्त कल्याणरूप अवस्था । इस अनशन स्वभावी आत्मा की सिद्धि के लिए कुछ दिन के लिए या यावज्जीव अनशन के विकल्पों का त्याग हो, ऐसी भावना के साथ जिसने आहार का परित्याग किया है उसके अनशन तप हुआ है ।

अवमौदर्य तप का भाव—इस ही प्रकार अनोदर तप भी निष्कलङ्क अन्तस्तत्त्व की सिद्धि के प्रसंग में होता है । अनशन स्वभावी इस आत्मा की सिद्धि का जिसे ध्यान है वह कदाचित् क्षुधा की वेदना, असाता की उदीरणा के कारण विधिपूर्वक आहार में प्रवृत्त होता है, लेकिन वहाँ थोड़े आहार मात्र से सन्तोष करके भोजन समाप्त कर बहुत खाली पेट आकर अपनी धर्मसाधना में जुट जाते हैं और कभी जान समझकर भी अवमौदर्य तप यों करते हैं यह भी आत्मकौतूहल देखूँ । भोजन करते हुए में लो

बस हो गया, अब नहीं करना, आज इतने ग्रास ही भोजन करूँगा । अवमौदर्य तप भी एक विशिष्ट तप है । अधपेट चले आना, यह भी एक तपस्या है ।

वृत्तिपरिसंख्यानादि तप का प्रयोजन—ये साधु जन अपनी दृढ़ता की परीक्षा के लिए, कर्मनिर्जरण की परीक्षा के लिए कभी-कभी अटपट प्रतिज्ञाएँ ले लेते हैं । ये प्रतिज्ञाएँ दूसरे को मालूम नहीं हो पाती है । जैसे कहीं कथावों में वर्णन आया है कि एक साधु ने यह नियम लिया कि चर्या के समय मुझे सामने से एक बैल ऐसा आता हुआ दिखे जिसकी सींग में गुड़ की भेली भिदी हुई हो तब आहार लेंगे । बतावो यह कैसे बने? किसी को क्या पता? कई दिन के बाद उनकी यह विधि बन गई । किसी बैल ने दूकानदार की दूकान में रखे हुए गुड़ में मुंह लगाया तो जल्दी-जल्दी में उस बैल की सींग में एक गुड़ की भेली बिंध गई । देख लिया साधु ने ऐसा दृश्य । लो उस साधु की प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी । तो ऐसा तप भी कर्मनिर्जरा के अर्थ होता है । इस तप से कर्मों की निर्जरा होती है स्वभाव की उपासना के कारण । यों ही सर्व तपों का प्रयोजन चैतन्यप्रतपन की सिद्धि है ।

गाथा १४५

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ।।१४५।।

कर्मसंधुनन—जो पुरुष सम्वर भाव से सहित होकर आत्मार्थ का साधक होता है, आत्मा का प्रयोजन है स्वभावविकास, उसका जो साधन हारा होता है वह पुरुष निश्चय से शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर सदा इस ही ज्ञायकस्वरूप का ही ध्याता रहता है । ऐसा ही पुरुष कर्मरूप धूल को उड़ा देता है । संवर नाम है शुभ और अशुभ परिणामों का पूर्णतया निरोध होना । शुभ ओर अशुभ परिणाम दोनों ही आस्रव के कारण हैं, आस्रव के अत्यन्त निरोध होने का नाम संवर है, अत: ऐसा परिणाम होना जो केवल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही रहा करे, रंग और तरंग जहाँ उत्पन्न न हों, कषाय और योग जहाँ उद्दण्ड न हों, ऐसे उस धीर परिणाम का नाम है संवर । उस संवरभाव को करके जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान कर लिया है ऐसा ज्ञानी पुरुष जब परपदार्थ विषयक, प्रयोजन से अथवा अन्य प्रयोजनों से अपनी बुद्धि को हटा लेता है और इस प्रकार आत्मा के प्रयोजन की साधना में ही जिसका मन उद्यमी रहता है वह पुरुष आत्मा को आत्मा के ही द्वारा प्राप्त करके इस ही आत्मा को अभेदरूप से चैतन्यस्वरूपमात्र ध्यान करता है, एक अविचलित मन होकर अपनी

ही इस विशुद्ध परिणति का स्वभावमात्र अनुभव करता है उस समय यह जीव स्नेह से अत्यन्त रहित हो जाता है, और वह कर्मरज को उड़ा देता है ।

क्लेश का कारण—जीवों को क्लेश का कारण स्नेहभाव है । किसी भी विषय का स्नेह हो, वे सारे स्नेह दो भागों में विभक्त हैं । एक तो विषयसाधना का स्नेह और एक लोक में अपने नाम का स्नेह, यश का स्नेह । अर्थात् इन्द्रिय विषयों का स्नेह और मनोविषय का स्नेह । यों ये स्नेह ही इस जीव को क्लेश के कारण हैं । जब कभी कोई उपद्रव की घटना होती है उस काल में जो घबड़ाहट है वह घबड़ाहट किस बात की है? स्नेह के विषयभूत विषय अथवा लोकयश इन दोनों का विघटन देखकर या विघटन की संभावना निरखकर इसे क्लेश उत्पन्न होता है । हे आत्मन् ! अनादिकाल से इस जगत् में भ्रमण करते हुए कितने ही तो विषयों के साधन बनाये होंगे और कितनी ही मन की बहुत दौड़ मचाई होगी, जब वे भी नहीं रहे । बड़े-बड़े वैभव राजपाट और बड़े देवेन्द्र आदिक के पद वे भी जब नहीं रहे तो आज का यह तुच्छ वैभव, छोटासा क्षेत्र और यह छोटासा समय, इसमें क्या अपना उपयोग फंसाये हो? इतनासा ही उपयोग का फँसाव मिटा दो और सबसे न्यारे अपने आपमें अपने आपको निरखकर केवल अपने आपका ही आपा बन जाओ तो अनन्त काल के लिए संकट समाप्त हो जाने का उपाय पा लोगे ।

क्लेशकर्मसंधुनन का प्रयोग—यह आत्मा स्वयं-स्वयं की ओर झुके, स्वयं का यथार्थ-स्वरूप जाने, स्वयं में मग्न हो तो समस्त संकट इसके समाप्त हो जाते हैं । और उस समय उत्पन्न होने वाला जो अद्भुत आनन्द है उसमें यह सामर्थ्य प्रकट होती है कि बड़े से बड़े तीव्र कर्मईंधन को भी यह चैतन्यप्रतपन जला देता, नष्ट कर देता । कर्मनिर्जरा कैसे होती है उसके उपाय में यह कहा जा रहा है कि रागद्वेष परिणामों का निरोध करके केवल ज्ञायकस्वरूप निजआत्मतत्त्व को निरख । इस निर्जरा तत्त्व के प्रकरण में कर्मनिर्जरा का हेतुभूत जो यह विशुद्ध ध्यान है उस ध्यान की मुख्यता से दृष्टि दिलाई गयी है ।

अज्ञानकृत बिगाड़—भैया ! शुभ अशुभ रागादिक ही तो हैं आस्रव । इस जीव को क्लेश के कारण तो शुभराग अथवा अशुभ राग हैं । होता क्या है? यह आत्मा जहाँ है, जिस प्रदेश में है वह वहाँ है । अब वहाँ से यह उपयोग द्वारा हट करके बाहर भगना चाहता है । जहाँ इसकी ऐसी बहिर्मुखी वृत्ति होती है वहाँ ही इस जीव पर संकट आ जाता है । यह अपने इस दृढ स्वरूपदुर्ग में रहे तो इसे कोई तकलीफ नहीं है, पर अपने स्वरूप से हटकर ज्यों ही यह बाहर की ओर दौड़ता है इस पर सारे

संकट छा जाते हैं । क्या अटकी थी इस जीव की जो अपने स्वरूप से च्युत होकर किन्हीं । परजीवों को, पर चीजों को यह अपना मानता है । किसी परजीव को अपना मानने से कोई इसमें सुधार होता है, शान्ति होती हैं, सन्तोष होता है क्या? प्रत्युत असन्तोष अशान्ति और बिगाड़ होता है । लेकिन कषाय विष्ट प्राणी अपनी बिगाड़ को भी नहीं देखते । जैसे क्रोधी पुरुष अपने आपकी बिगाड़ को भी नहीं निरखता किन्तु क्रोध में जो चित्तवृत्ति बन जाती है उसके माफिक अपनी प्रवृत्ति करता है, ऐसे ही संसार के सभी प्राणी जिन प्रवृत्तियों से इसकी बरबादी हो रही है उन्हीं प्रवृत्तियों को यह अपनाता जा रहा है ।

हेय उपादेय के निर्णय का परिणाम—जब शुभ अशुभ भाव का निरोध हो तब इस जीव को कल्याणमार्ग मिलता है । ज्ञानी पुरुष हेय और उपादेय तत्त्व का भली प्रकार निर्णय रखता है । चाहे किसी परिस्थिति में हेय तत्त्व में भी लिपटे हो फिर भी यह हेय ही है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा रहा करती है । आत्मा का जो हित है वह उपादेय है और परवस्तुविषयक प्रयोजन है अथवा पर प्रयोजन है वह सब हेय है । यह ज्ञानी पुरुष पर प्रयोजन से दूर हटकर शुद्ध आत्मा का अनुभवरूप केवल निज कर्म का साधने वाला होता है । सर्व पुरुषार्थ करके एक अपने आपको ऐसे अनुभव में लगा दो कि यह मैं आत्मा अमूर्त केवल ज्ञानानन्दप्रकाश मात्र हूँ, केवलज्ञानस्वरूप हूँ—इस अनुभव से ऐसा बल प्रकट होगा कि बड़े से बड़े सांसारिक बिगाड़ों में भी यह आकुलित न होगा । जैसे किसी दूसरे देश का बिगाड़ होने पर इस देश वाले प्राय: विह्वल तो नहीं होते, जैसे अन्य नगर, अन्य पुरुष का, अन्य पड़ोसी का कुछ बिगाड़ होने पर यह अन्तर में विह्वल तो नहीं होता । ऐसे ही समझ लीजिये कि जिसके श्रद्धा में यह है कि ये तो दूसरों की चीजें हैं, जिस ज्ञानी के यह देह भी दूसरे की चीज है, अन्य चीज है ऐसा स्पष्ट निर्णय है उस ज्ञानी का, इस देह के वियोग के समय, मरण के समय भी विह्वलता नहीं हो सकती है । विह्वलता तब है जब परपदार्थों में स्नेह लगा हुआ हो।

ज्ञानी की निरख—यह ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से उपयोग हटाकर केवल एक अपने आपके स्वरूप में उपयोग को जोड़ता है । यह समस्त आत्मप्रदेशों में निर्विकार नित्यानन्दरूप अपने आत्मा को मानता है, रागरहित इस शुद्ध ज्ञानप्रकाश का अनुभव करता है । यह मैं आत्मा केवल प्रतिभासमात्र हूँ । इस मुझ आत्मा का अन्य कुछ नहीं है । यह जीव प्रकट निराला है । इसका सत्त्व, इसके बँधे हुए कर्म, इसके परिणमन मुझ से प्रकट निराले हैं । मैं इस रूप नहीं हूँ, परद्रव्यों से हटकर निर्विकल्प ध्यान के द्वारा यह ज्ञानी पुरुष निश्चल चित्त होकर इस आत्मा को एक अभेद ज्ञानस्वरूप निरखता है और यह इस ज्ञानस्वरूप को निरखने में इतना दृढ़ है कि घोर

उपसर्ग भी आ जायें, तो भी उनसे विचलित नहीं होता । कुछ-कुछ तो यहां के लोग भी निरखे जाते हैं कि अमुक से अमुक पुरुष अधिक अविचल चित्त है ।

दृढ़ संकल्प में साहस—कोई उद्देश्य ही ऐसा दृढ़ बनाया है ज्ञानी जीव ने जिसके कारण इसका चित्त अविचल रहता है । कुछ तो निकट काल की ही घटनायें भी सुनने में आई हैं कि आजादी की भावना रखने वाले कुछ क्रान्तिकारी लोगों को कैद करके उनकी अंगुलियाँ भी जलाई गयीं कि तुम अपने ग्रुप का भंडाफोर करो, अमुक बात बतावो, लेकिन अंगुली जला लेना उनके लिए कष्टकारक नहीं हुआ एक अपने उद्देश्य को पूर्ति के लिए । फिर भला बतलावो जिन ज्ञानी पुरुषों ने अपना एक यही उद्देश्य बनाया है कि मैं सत्य आनन्द प्राप्त करूँ, और वह सत्य शांति मेरे स्वरूप में स्वभाव में है, उस ही स्वभाव को मैं निरखूँ, एक ही मेरा काम है कि अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप निहारता रहूँ । मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा केवल ज्ञानमात्र निहारता रहूँ यही मेरा एक काम है ।

स्वरूपसंवेदन का प्रभाव—स्वरूपस्थता के काम में जो दृढ़ता से लग गए, सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार अनेक महापुरुष वे सभी कैसे अविचल चित्त थे? कैसे कठिन उपसर्ग आये, फिर भी वे स्वरूप रुचि से चलित नहीं हुए । तो कोई बलिष्ट बात तो उनके अंदर थी ही । गजकुमार के सिर पर मिट्टी की बाड़ लगाकर तेज आग लगा दी गई, सिर जलने लगा, मांस नीचे टपकने लगा, इतने पर भी वे गजकुमार जरा भी विचलित नहीं हुए । तब समझ लीजिए कितना बड़ा सारभूत काम उनको करने को पड़ा हुआ था जिसमें इतनी लीनता थी? इतना बड़ा उपसर्ग भी उनके लिए न कुछ हो गया । तो यों ज्ञानी पुरुष जब अविचल चित्त होकर स्नेहरहित होकर शुद्ध स्फटिक स्तम्भ के समान अन्तर बाह्य निर्मल रहते हैं वे ज्ञानी पुरुष कर्मधूल को उड़ा देते हैं । निर्जरा पदार्थ के व्याख्यान में निर्जरा का मुख्य कारण शुद्ध आत्मा है उसका इस गाथा में वर्णन किया है ।

गाथा १४६

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहऽहणो झाणमओ जायए अगणी ।।१४६।।

शुभाशुभ भाव के दहन का उपाय—जिस जीव के रागद्वेष मोह और योगप्रवृत्ति नहीं है उस जीव के शुभ अशुभ भावों को जलाने वाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है । पूर्व गाथा में यह बताया था

कि शुभ अशुभ से रहित एक शुद्ध स्वरूप का आलम्बन कर्मों को नष्ट कर देता है । तो यहाँ उपाय बताया है उसका कि वह उपाय कौनसा है कि जिससे शुभ और अशुभ परिणाम न रहें जीव में । वह उपाय है शुद्ध ध्यान । यह आत्मा, यह संसारी जीव सदा किसी न किसी ध्यान में रहा करता है और ध्यान ही करता है । एक भाव बनाने के अतिरिक्त अन्य कुछ करता ही क्या है? ध्यान शुद्ध अन्तस्तत्त्व का बने तो शुभाशुभ कर्म दूर हो जाते हैं ।

बाह्य में जीव का अकर्तृत्व—एक जीवस्वरूप को निरखकर देखो यह जीव केवल अपने स्वरूप का ही कर्ता है, अपने परिणमन का ही कर्ता है, और उपाधि सहित होने से एक इच्छा करता है, उस इच्छा के होने पर जैसी सामर्थ्य है, जैसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है उस इच्छा के कारण आत्मा में योग परिस्पंद होता है और उस योग परिस्पंद के कारण शरीर की वायु में परिस्पंद होता है और उस वायु के परिस्पंद से यह शरीररूपी इंजन चल बैठता है । रेल का इंजन भी तो वायु से प्रेरित होकर चलता है । वह हवा स्टीम के रूप से बनी है । तो जैसे अन्तर वायु से प्रेरित होकर उस इंजन के पेंच पुर्जों के भीतर जो हवा बनती है उस हवा से प्रेरित होकर इंजन का सब मशीन ढाँचा चल उठता है ऐसे ही इस शरीर में जो अन्तर्वायु है उसका हलन-चलन होने से उस अनुरूप इसके हाथ, पैर, ओंठ, जीभ ये चलने लगते हैं और उनके चलने से जैसा जो कुछ बाह्य में परिणमन होना है, होता है।

जीव में भावना का कर्तृत्व—जैसे जिह्वा आदिक के चलने से शब्दों का निर्माण होता है, शरीर आदिक के चलने से क्षेत्र से क्षेत्रान्तर तक पहुंच जाता है, ये सारी बातें हो रही हैं और बड़ी शीघ्र हो रही हैं । विलम्ब नहीं रहता । मैं इच्छा करूँ अब कि यह बोले और बोल निकले देर में ऐसा भी नहीं है । गड़बड़ कोई बोल जाय उन समस्त बोलों में इच्छा बराबर नाच रही है । तब तो क्रमपूर्वक वैसे शब्द बोले जा रहे हैं । यह जीव सिवाय भावना के, ज्ञान की इच्छा के अन्य कुछ नहीं करता । तो देखो जब भावना से ही इतना बड़ा संसार बनाया है तो इस भावना से ही यह संसार मिटाया भी जा सकता है । वह कौनसी भावना है, वह कौनसा ध्यान है जिससे ये संसारसंकट दूर हों? निज शुद्धस्वरूप में चैतन्य वृत्ति अविचलित होवे उस ही का नाम यह ध्यान है ।

ध्यानाग्नि —जब यह जीव अनादिकालीन मिथ्यात्व की वासना के प्रभाव से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से अनेक कामों में प्रवर्त रहे, इस उपयोग को संकोच करके बाह्यपदार्थों से कुछ हट करके जब न मोह करने वाला, न राग करने वाला, न द्वेष करने वाला इस प्रकार अपने को

निष्कषाय बनाता है, अत्यन्त शुद्ध बनाता है अर्थात् निज शुद्धस्वरूप में अपने उपयोग को जमाता है उस समय इस जीव के शुद्ध ध्यान प्रकट होता है । वहाँ यह निष्क्रिय केवल प्रतिभासस्वरूप चैतन्य में ही विश्रान्त हो जाता है । वहाँ मन, वचन, काय की भावना नहीं रहती । उनके परिस्पंद का यत्न नहीं रहता और ये इन्द्रियाँ अपने कर्मों में उद्यत नहीं होतीं । उस समय जो ध्यान बनता है वह ऐसा उत्कृष्ट है, ऐसी अद्भुत अग्नि की तरह है जो शुभ और अशुभ सब प्रकार के कर्म ईंधन को जलाने में समर्थ है अथवा यों कह लीजिए कि जैसे तुषार के द्वारा बडे-बड़े वृक्ष भी जल जाया करते है, इसी तरह इन शान्त परिणामों के द्वारा इस अपने आप में अपने उपयोग को समा लेने रूप शुद्ध ध्यान के द्वारा ये शुभ अशुभ कर्म, ये संसार विषवृक्ष सब जल जाया करते हैं ।

ध्यानाग्नि का प्रताप—निज शुद्धस्वरूप का ध्यान ही परमपुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है । जैसे थोड़ी भी अग्नि बहुत अधिक मात्रा में हुए तृण काष्ठ की राशि को थोड़े ही समय में जला देती है इसी प्रकार मिथ्यात्व और कषाय आदिक विभावों से परे शुद्धस्वभाव के ध्यानरूपी अग्नि , जो कि विभाव की परिहार रूपी वायु से प्रज्वलित हुई है ऐसी यह ध्यानाग्नि और जो कि परमानन्द रस रूपी घी से सिंचित हुई है ऐसी यह आतम सम्वेदन रूपी ध्यानाग्नि समस्त कर्मों को, ईंधन राशि को क्षणमात्र में जला देती है । अग्नि को हवा मिले और कुछ घी मिले तो वह अग्नि तेज ज्वलित हो जाती है, इसी प्रकार आत्मानुभव रूपी अग्नि को विभावों की परिहार रूपी महान वायु मिली है और विशुद्ध आत्मीय आनन्दरस का धृतसिंचन हुआ है, उससे प्रज्ज्वलित हुई यह ध्यानाग्नि समस्त कर्मों को दूर कर देती है ।

पुरुषार्थ का अवसर—आज के इस कठिन समय में भी कोई पुरुष यदि कल्याण की विशुद्ध भावना बनाये तो आज भी योग्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से शुद्ध होकर यहाँ से इन्द्र-पद प्राप्त कर सकता है, लोकान्तिक देव बन सकता है जहाँ से चलकर मनुष्य होकर निर्वाण को प्राप्त कर सकता है । जीवन का समय थोड़ा है, आगम का विषय बहुत बड़ा है और हम आप लोग भी मंद बुद्धि के लोग हैं, ऐसी स्थिति में हम आपको कम से कम इतनी शिक्षा तो दृढ़ता से ग्रहण कर लेनी चाहिए जिस शिक्षा पर रखी हुई वृत्ति इस जन्ममरण से व्यास संसार की जड़ को काट सकती है अर्थात् वह सीधा सा उपाय है । हम अपने आपको परिजनों से, वैभव से, देह से सबसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव किया करें, यह अन्तः श्रद्धा हमारी प्रत्येक परिस्थिति में बनी रहे, ऐसी प्रवृत्ति, प्रकृति और दृष्टि बने तो नियम से अपना कल्याण होगा, इसमें सन्देह की रंच भी बात नहीं है ।

गाथा १४७

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा ।
सो तेण हवदि बंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण ।।१४७।।

यह रागी आत्मा शुभ अशुभ भावों को जो कि प्रकट होते हैं कर्म प्रवृत्ति का निमित्त पाकर उन शुभ अशुभ भावों के होने पर यह जीव उस-उस प्रकार से नाना पुद्गल कर्मों से बँध जाता है । इस गाथा में बंध के स्वरूप का आख्यान किया है ।

अशुद्धता का कारण—यह जीव अनादिकाल से रागी चला आया है । इस राग का कारण है किसी दूसरी उपाधि का सम्बंध । किसी भी पदार्थ में उस पदार्थ के स्वभाव के विरुद्ध कोई काम होगा तो वहाँ नियम से किसी परउपाधि का निमित्त होगा । किसी परउपाधि के सम्बंध बिना विपरीत कार्य नहीं होता । जीव का स्वभाव शुद्ध ज्ञातादृष्टा रहने का है । ऐसी शुद्धवृत्ति को छोड़कर रंग तरंगरूप जो अशुद्ध वृत्तियां होती हैं उनका कारण कोई न कोई परउपाधि का सम्बन्ध है । वह परउपाधि है कर्म । कर्मउपाधि के आश्रय से अनादिकाल से रागी हुआ यह आत्मा कर्मों के उदय के निमित्त से जो-जो भाव उदीर्ण हुए हैं, प्रकट हुए हैं शुभ अथवा अशुभ, उन शुभ अशुभ भावों का निमित्त पाकर यह जीव पुद्गल कर्मों से बँध जाता है ।

त्रिविध बन्धन—इस कथन में ३ बातों पर दृष्टि डाली गई है । जो मोह रागद्वेष से स्निग्ध हुआ जो शुभ अशुभ परिणाम है वह तो है जीव का भावबन्धन और उस भावबन्धन का निमित्त पाकर जो शुभ अशुभ कर्मरूप परिणत होते हैं पुद्गल स्कंध वे हैं द्रव्यबंध । ओर उन पुद्गल कर्मों का जीवप्रदेश के साथ एक क्षेत्रावगाह बंधन हो जाता है उसका नाम है उभय बंध । बन्ध में इन तीन दृष्टियों को देखिये—अब यहाँ एक और मर्म की बात अन्वेषण करें कि जीव में भाव बन्ध हुआ । बन्धन दो का ख्याल रखकर हुआ करता है । एक में बन्ध क्या? कोई पदार्थ एक है, अद्वैत है उसका बन्धन क्या? बंधन शब्द का अर्थ ही यह है कि दो का विशिष्ट संयोग होना सो बन्धन है । एक वस्तु का क्या बन्धन है? तब जीव में भाव बन्ध हम किस प्रकार निरखें? उभय बन्ध तो सुगम विदित है, यहाँ जीवद्रव्य हैं, यहाँ पुद्गल द्रव्य है, इन दोनों का परस्पर में बन्धन हो गया, पर भाव बन्ध क्या, और द्रव्यबन्ध क्या? इसके समाधान में प्रथम तो यह निर्णय करें कि केवल एक भाव द्रव्य बन्धन ही स्वयं हो ऐसा नहीं है ।

तीनों बन्धनों का योग—बंध में तीनों बन्ध होते हैं—भावबंध भी है, द्रव्यबंध भी है उभयबंध भी है । इनमें से किसी एक को न मानें तो तीनों भी बन्धन नहीं बँधते, पर ऐसा होते हुए भी दृष्टि की कला से ३ बातें विज्ञात होती हैं । अब दूसरी बातें भी देखिए—जीव का स्वभाव है शुद्ध चैतन्य । जीव का प्राण है ज्ञान और दर्शन । किसी भी प्रकार हुआ हो, अन्य उपाधि का निमित्त पाकर हुआ है, लेकिन क्या ऐसा देखा नहीं जा सकता कि हम कुछ उपाधि पर दृष्टि न दे और जो उपादान बिगड़ गया है मात्र उसको ही निरखकर निर्णय करें ऐसा किया जा सकता है ना? किया जा सकता है ।

दृष्टान्तपूर्वक भावबन्धन का प्रदर्शन—जैसे दर्पण—उसके पीछे रहने वाले जो पदार्थ हैं उन सबका प्रतिबिम्ब आ जाता है । यद्यपि दर्पण में वह प्रतिबिम्ब परउपाधि का निमित्त पाये बिना आया नहीं है, लेकिन हम पीठ पीछे की उन उपाधियों को ख्याल में न रखकर केवल दर्पण और दर्पण में बीत रही हुई बातों को ही ध्यान में रखकर कुछ निर्णय करें तो क्या कर नहीं सकते? वहाँ यह निर्णय हो रहा है कि दर्पण का स्वभाव तो अतीव स्वच्छता है । अब देखो यहाँ इस दर्पण में उस स्वच्छता का विघात करते हुए दर्पण के ही प्रदेशों में दर्पण के प्रतिबिम्बरूप परिणमन होता है और इस समय परिणमन और स्वच्छता—इन दोनों का ऐसा प्रवेश है कि इस प्रतिबिम्ब के कारण स्वच्छता का विघात है और देखो इस स्थिति में स्वभाव के साथ यह प्रतिबिम्ब ऐसा बँध गया है कि प्रतिबिम्ब का तो आविर्भाव है और स्वच्छता का तिरोभाव है । कितना विकट बंधन है कि दोषों का तो प्रसार है और गुणों का तिरोभाव है । ऐसे ही कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव में रागद्वेष मोह भाव हुआ है, ठीक है, किन्तु दृष्टि की कला यहाँ जब हम एक निश्चय पद्धति से लगाते हैं, हम केवल वर्तमान परिणम रहे इस जीव को निरख रहे हें ।

विभाव का आवरण—हम अपने उपयोग में इस समय परउपाधि को नहीं निरखते हैं और केवल वर्तमान परिणत जीव को ही निहारें तो वहाँ हम को क्या-क्या दिखेगा? यह जीव स्वभावत: चैतन्यस्वरूपमात्र है, किन्तु वर्तमान में इस जीव के प्रदेशों में रागादिक भावों का ऐसा प्रसार है जिस प्रसार के कारण रागादिक भावों का तो आविर्भाव है और चैतन्यस्वभाव का शुद्धभाव का स्वभाव. विकास का तिरोभाव हो गया है । यह स्वभाव में विभाव का ऐसा प्रवेश है विलक्षण जो स्वभावरूप न हो विभाव, फिर भी विभाव वहाँ हावी है । एक प्रसार फैला हुआ है । वहाँ स्वभाव में गुणों का ऐसा बन्धन बन गया है, यहॉ एक ही पदार्थ में बन्धन है ।वस्तुत: किसी भी पदार्थ का विकल्प उस ही पदार्थ की बंध पद्धति से होता है, उसमें निमित्त परउपाधि हुआ करती है । किन्तु वह उपाधि अलग

खड़ी-खड़ी हँसा करती है । उस उपाधि का उपादान में न गुणरूप से, न पर्यायरूप से प्रवेश है । यों जीव का यह भावबंध है । जीव का यह भावबंध निश्चयदृष्टि से जीव के परिणमन से हुआ है, जीव से हुआ है, जीव के लिए हुआ है और उस बन्धनरूप परिणमन में वह जीव स्वतंत्र कर्ता हे ।

द्रव्यबन्ध—अब यहां द्रव्यबंध की बात देखिये । जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप न थीं उनमें कर्मत्वपरिणमन आया, यही द्रव्यबंध है । यह द्रव्यबंध यद्यपि जीव के रागादिक विभावों का निमित्त पाकर होता है तिस पर भी हम अपनी दृष्टि से, निश्चय कला की पद्धति से प्रयुक्त करें तो हम उपाधिभूत परद्रव्य को न निरखें और यहाँ जो गुजर रहा है उस पर दृष्टि करें । ये कार्माणवर्गणायें ऐसी योग्यता के कारण कार्माण नाम व्यपदेश को प्राप्त होती हैं । कर्मरूप नहीं हैं । कर्मरूप होने से पहिले जैसे अन्य वर्गणायें विशुद्ध हैं ऐसे ही ये कार्माणवर्गणायें विशुद्ध थीं । अब क्या गुजर गया इन वर्गणावों में? एक विलक्षण कर्मत्वपरिणति आ गयी, ज्ञानावरणादिक परिणति पड़ गई, उनके ठहरने की स्थिति बँध गई, अनुभाग आ गया । यह सब इन कर्मों में जो परिणमन होता है इस परिणमनरूप उस द्रव्य में बंध हो गया । यही हुआ द्रव्यबंध ।

कर्मबन्धन—अब कुछ इससे आगे और चले तो इस जीव में जो ज्ञानावरणादिक कर्म पहिले से ठहरे हुए हैं उन ज्ञानावरणादिक कर्मों के साथ नवीन कर्मरूप परिणमे हुए द्रव्य का बन्धन हो गया है, वह मिल गया है । शरीर ५ माने गए हैं - औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण । कार्माण शरीर और है क्या? कार्माणशरीर के लक्षण में कहीं यह भी बताया है कि कर्मो का जो समूह है उसका नाम कार्माणशरीर है । तब कार्माण शरीर नामकर्म के उदय से हुआ क्या? कर्म तो बंध गये रागद्वेष मोह के कारण और वे इकट्ठे आ गए । अब कार्माणशरीर इससे अलग क्या? तो यों समझियेगा जैसे हम कहें ईंट और भींत । भींत नाम और किस बात का है? जो ईंटों का समूह है उस ही का नाम भींत है । तो यहाँ बिखरी पड़ी हुई ईंटों में और भींत में कुछ अन्तर है क्या? उन ईंटों का जम करके एक बोडी बन जाना उसका नाम भीत है । कर्म आते हैं और आने के ही साथ कार्माणशरीर की बोडी में एक रस होकर शरीररूप हो जाया करते हैं । यों पहिले बँधे हुए द्रव्यकर्म के साथ नवीन बन्धन वाले द्रव्यकर्म का बन्धन हीना यह भी द्रव्यबंध है और उभयबंध तो स्पष्ट है । जीव के प्रदेशों के साथ पुद्गलकर्म का बन्धन होना एक क्षेत्रावगाह निमित्तनैमित्तिक रूप बंधन होने का नाम है उभयबंध । इस प्रकार बंध के स्वरूप का वर्णन करते हुए इस गाथा में मुख्य बात यह बतायी है कि आत्मा के शुद्धपरिणमन से विपरीत शुभ अशुभ परिणाम होना भावबंध है । और उन कर्मों का कर्मत्वरूप परिणमन होना द्रव्यबंध है और जीव के प्रदेशों के साथ कार्माणवर्गणाओं का एकमेक अन्योन्यावगाह प्रवेश और

निमित्तनैमित्तिक निर्णयरूप बन्धन होना, सो उभयबंध है।

गाथा १४८

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकाय संभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ।।१४८।।

आस्रव और बन्ध का कारण—इस गाथा में बन्ध के बहिरङ्ग कारणों पर विचार किया गया है । द्रव्यकर्म का ग्रहण योग के निमित्त से होता है । जीव के प्रदेशों में परिस्पंद होने का नाम योग है और उस योग का निमित्त पाकर कर्मों का आस्रवण होता है । यह योग मन, वचन, काय के परिस्पंद से उत्पन्न होता है । यह तो बताया आस्रव की पद्धति । इस ही प्रकरण में जहाँ कि निमित्तनैमित्तिक भावों का वर्णन चल रहा है किसी कारण से क्या हुआ वहाँ यह जानना कि मन, वचन, काय की क्रियावों के निमित्त से आत्मप्रदेशों में परिस्पंद हुआ और इस योग के निमित्त से नवीन कर्मों का कर्मत्व का आस्रवण हुआ । यहाँ तक तो आस्रव की बात कही अब बंधकी बात सुनिये।

बन्ध में स्थिति की प्रमुखता—कार्माणवर्गणाओं में कर्मत्वपरिणमन हुआ, इसके साथ ही उस कर्म का स्थितिबन्ध बन्धन हुआ कि इतने दिनों तक यह ठहरेगा । एक समय से अधिक समय ठहरने का नाम बन्धन है । यद्यपि वह बन्धन प्रथम समय से ही हुआ है, पर यह बन्धन है, ऐसा जाहिरापन इस विधि से हुआ जब यह ज्ञात हुआ कि यह एक समय से ज्यादा भी ठहर गया । ऐसा यह बन्धन जीव के भाव के निमित्त से होता है । वह कौनसा जीवभाव है जिस जीवभाव का निमित्त पाकर कर्मों में इस प्रकार का बन्धन हुआ करता है । वह भाव है रागद्वेषमोह युक्त आत्मा का अध्यवसाय परिणाम । कर्मपुद्गल का जीवप्रदेश में रहने वाले कर्मस्कंधो में प्रवेश हो जाने का नाम ग्रहण है । वह होता है योग के निमित्त से और योग नाम है मन., वचन, काय की क्रिया वर्गणावों का, कर्मवर्गणाओं का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशों का परिस्पंद होना । मन, वचन, काय के कारण योग नहीं होते, किन्तु मन, वचन, काय की कर्मवर्गणावों के निमित्त से आस्रव होता है, योग होता है ।

वर्गणा—वर्गणा एक नाप का भी नाम है । उसे द्रव्य में भी लगाओ, क्षेत्र में भी लगाओ काल में भी लगाओ और भाव में भी लगाओ । जैसे कोई पिण्डरूप वस्तु सामने रखी हो तो उसमें अनेक वर्गणाएँ हैं और किसी वस्तु में क्रिया हुई तो क्रियावों का भी नाप वर्गणावों से लगा लो । तो मन,

वचन, काय को जो क्रिया वर्गणायें हैं अर्थात् कर्म हैं, क्रिया हैं उनका आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेश परिस्पंद हुआ है उसका नाम योग है । एक वस्तुस्वातंत्रय की दृष्टि से जो यह कथन हुआ करता है कि जीव में इच्छा और ज्ञान हुआ उस इच्छा और ज्ञान की प्रेरणा पाकर आत्म-प्रदेशों में हलन-चलन हुआ और उस योग का निमित्त पाकर ओंठ, हस्त आदिक अंगों में क्रियाएँ हुई, उसके बाद वचन या अन्य पदार्थों का ग्रहण परिहार हुआ । इस कथन में और इस प्रकरण के कथन में कोई विरोध नहीं है । इच्छा की प्रेरणा पाकर जो आत्मप्रदेशों में योग हुआ है वह मन, वचन, काय की क्रियावों का आलम्बन पाकर हुआ है, क्योंकि यह जीव अकेला नहीं है इस प्रसंग में । जो जितना मन, वचन, काय का आलम्बन पाकर यह योग हुआ है इस योग से जो शरीर में वायु चली कि शरीर की क्रियायें हुईं वे वायु और क्रियाएँ जुदी चीज हैं।

क्रियावर्गणा—क्रियावर्गणा व योग के प्रसंग में कुछ ऐसा भी समझिये जैसा कि ध्वनि निकलती है तो ध्वनि निकलने में २ प्रकार की वर्गणावों में सम्बंध होता है—एक महास्कंध और एक भाषावर्गणा स्कंध । जीभ, ओंठ, दांत, तालु के टक्कर से शब्द प्रकट नहीं हुआ है, किन्तु यह तो है महास्कंध, जो पकड़ने में आता है, दिखने में आता है, इन महास्कंधों का तो संघट्टन हुआ और उनके-उनके संघट्टन का निमित्त पाकर जो भाषावर्गणा के स्कंध हैं, जो आँखों नही दिखते, पकड़ में नहीं आ रहे उन भाषावर्गणा के स्कंधों से शब्द ध्वनि निकली है, इन ओठों से नहीं । यहाँ यह समझिये कि इच्छा की प्रेरणा पाकर मन, वचन, काय का आलम्बन पूर्वक योग होता है । अब इस योग से योग के माफिक इस इच्छा के अनुकूल शरीर में वायु का स्पंद हुआ, उससे अंग चले, अथवा एक पद्धतिभेद से जुदे-जुदे भी भावदृष्टि में ला सकते हैं । यह है योग । इससे तो कर्मों का आस्रवण होता है ।

बन्धविधान व उसकी प्रतिक्रिया—अब बंध जो होता है वह किस विधान से होता है? इसे सुनिये । कर्मपुद्गल का, विशिष्ट शक्तिरूप परिणमन से ठहर जाना ऐसा जो कब होता है ? वह जीवभाव के निमित्त से होता है । वह जीवभाव क्या है? जीव के शुद्ध चैतन्यप्रकाश के परिणमन से विपरीत ये कषाय मिथ्यात्व आदिक परिणमन हैं । इन परिणमनों के निमित्त से कर्मो का बंध हुआ है । मोहनीय कर्मों के उदय से जो विकार जगता है वह विकार कर्मबन्ध का कारण 'है । यहाँ यह बात समझना कि पुद्गल के ग्रहण का कारण होने से योग तो बहिरङ्ग कारण है इस बंध में और विशिष्ट शक्ति, विशेष स्थिति जो उन वर्गणावों में पड़ी है उसका कारण है कषायभाव, जीवभाव । वह जीवभाव अन्तरङ्ग कारण है । वह बंध नामक हेय तत्त्व की व्याख्या चल रही है । हम आप पर यह बंध की विपदा पड़ी हुई है । इस जीवन की काल्पनिक विपदावों को छेदने में ही अपने उपयोग को लगा दें तो बुद्धिमान

नहीं है । सब विपदावों का कारणभूत जो यह कर्मत्व की विपदा है उसके छेदने का यत्न करना चाहिए । वह यत्न है आत्मस्वरूप की दृष्टि । जैसा अपना स्वरूप है वैसा अपने को मानना, उस ही में रमना यह है बंध के विनाश की पद्धति । इसका हम यत्न करें और इसके लिए वस्तुस्वरूप का ज्ञान करें, ज्ञानार्जन करें तो इस ही उपाय से हमें सब उपाय बनाना आसान हो जायगा ।

गाथा १४९

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ।।१४९।।

कर्मबंन्धव्यवस्था—आठ प्रकार के कर्मों के बंध का कारण चार प्रकार का द्रव्यप्रत्यय है और उन चोर प्रकार के द्रव्य प्रत्ययों का भी कारण रागादिक विभाव हैं । उन रागादिक विभाव भावों के अभाव होने पर फिर कर्म नहीं बँधते । ऐसी प्रसिद्धि है कि कर्मबन्ध का कारण जीव के रागादिक भाव हैं । यह एक सुगम कथन है । वस्तुत: वहाँ बात क्या होती है कि नवीन कर्मबन्ध का कारण उदय में आये हुए कर्म हैं, रागादिक नहीं है, और उदय में आये हुए कर्मों में नवीन कर्मबंधन का निमित्तपना आ जाय, इसमें निमित्त हैं रागादिक भाव । इसी कारण सीधा कथन प्रसिद्ध हो गया कि रागादिक भावों के कारण कर्मबन्ध होता है । इस कथन में अनेक मर्म पड़े हुए हैं । प्रथम तो मूर्तिक पुद्गल कर्मों के बन्ध का कारण सीधा कुछ मूर्तिक पदार्थ होना चाहिए । इसकी पुष्टि इसमें हो जाती है तथा इसका भी समर्थन इस पद्धति में हो जाता है कि उदय में आये हुए द्रव्य कर्म में नवीन कर्मबन्ध का निमित्तपना आये तभी ना कर्म बँधेगा, तो ऐसा निमित्तपना आने में कारण हैं रागादिक भाव । तब यह संभावना की जा सकती है कि कभी ऐसी स्थिति आ जाये कि द्रव्यकर्म तो उदय में आ रहे हैं और रागादिकभावों का सहयोग न मिले तो वे द्रव्यप्रत्यय बंध के कारण नहीं हैं ।

रागादि के अभाव में द्रव्यप्रत्यय की बन्धाहेतुता—अब इस प्रसंग में इस बातपर विचारकरना है कि क्या ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि द्रव्यकर्म तो उदय में हों और रागादिकभाव न होते हों? ऐसी स्थिति की सम्भावना एक दो स्थलों में हो सकती है । जैसे दशम गुणस्थान में द्रव्य मोहनीयकर्म का उदय है, संज्वलन सूक्ष्म लोभ का उदय है, पर मोह बंध के योग्य रागादिक भाव नहीं हैं । इस कारण से वहाँ मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता । दूसरी स्थिति विचारिये । कभी निषेकों के क्रम में ऐसा निषेक पुञ्ज आ जाय जिसका अनुभाग मंद हो और उस उदयागत कर्म का आश्रयभूत नोकर्म का

समागम न मिले तथा यह ज्ञानी जीव अपनी उस समय की योग्यता के पुरुषार्थ से कुछ आत्मचिन्तन की ओर लगे तो ऐसी स्थिति में जहाँ कि ये दो-चार बातें हुई हैं, उदयागत द्रव्य प्रत्यय में निमित्तपना का निमित्त न आयगा कुछ इस विषय को समझने के लिए एक दृष्टान्त लें ।

बन्धहेतुहेतुत्व का स्पष्टीकरण—जैसे किसी मालिक के साथ कुत्ता भी जा रहा है, सामने से कोई एक विरोधी पुरुष आये तो मालिक ने कुत्ते को सैन दी, छू, और उस कुत्ते ने उस पुरष पर आक्रमण कर दिया । मालिक की बुद्धि के सामने कुत्ते में तो कोई बुद्धि नहीं है । तो ऐसा अबुद्ध कुत्ता उस विरोधी के संघर्ष में आया है, किन्तु उस कुत्ते में संघर्ष करने का बल आ जाय इसका कारण मालिक की सैन है । यों ही इस रागी जीव के साथ प्रदेशों में कर्मों का उदय चल रहा है, उदयागत इन कर्मों का साक्षात् संघर्ष नवीन कर्मों के साथ होता है बन्धन के लिए, किन्तु उदयागत द्रव्यकर्म में ऐसा बंध निमित्तपना आये उसके लिए सैन मिली है इस रागी जीव की विकारपरिणति की । इस रागी जीव के राग की सैन को पाकर उदयागत द्रव्यकर्मों में नवीनकर्म बन्ध का कारणपना आया । बात बहुत सूक्ष्म है यहाँ यथार्थ निमित्तनैमित्तिकपना बतलाने के प्रसंग में ।

आस्रवों की चतुर्विकल्पता—अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में अष्टकर्मो के बंध के हेतुभूत चार प्रकार के भाव कहे गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग । इस मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को आप दो भेदों में रख लीजिए । द्रव्यमिथ्यात्व, भावमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, भावअविरति, द्रव्यकषाय, भावकषाय, द्रव्ययोग, भावयोग । जो इन चार प्रकार के जीवों में हरकतों का कारणभूत कर्म है वह तो है द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोग । और जीव में जो इस प्रकार का परिगमन हो रहा है वह है भावमिथ्यात्व, भावअविरति, भावकषाय और भावयोग । तो कर्मबन्ध के कारणभूत वे चार द्रव्यभूत प्रत्यय हैं, उनमें बन्धहेतुता आ जाय उसका हेतु है जीव के परिणमन रूप रागादिक भाव । क्योंकि रागादिक भावों का अभाव होने पर द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्यअविरति, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोग का सद्भाव होने पर भी जीव बँधते नहीं हैं । इसका एक अर्थ तो अभी बताया ही है । दूसरी बात यह समझो कि सत्ता में पड़े हुए ये द्रव्यकर्म हैं, सद्भाव तो इनका है, पर उस-उस योग्य इस समय रागादिकभाव नही हैं, इसलिए जीव बँधता नहीं है ।

द्रव्यप्रत्यय में बन्धहेतुता का काल—इस सम्बन्ध में समयसार में एक दृष्टान्त दिया है । किसी बड़ी उम्र वाले पुरुष का अत्यन्त कम उमर वाली बालिका के साथ विवाह हो जाय, जैसे बहुत पहिले उद्दण्डता चलती थी, तो वह छोटी बालिका बन्ध के योग्य नहीं है क्योंकि उस बालिका में अभी विकारों

का सद्भाव नहीं आया । समय पाकर राग विकार आ जाय, उस समय में ये पुरुष और स्त्री बंध जाते हैं । ऐसे ही बन्धन तो हो गया कर्म का, पर अपनी उमर पर जब तक ये कर्म विपाक में न आयें, जब तक ये कर्म अपनी आखिरी स्थिति पर न आयें तब तक ये बन्धन के कारण नहीं बनते, यों ही पड़े रहते हैं । जब ये कर्म अपनी स्थिति पर आते हैं, उदय को प्राप्त होते हैं तब कर्मबन्ध के कारण होते हैं ।

बन्धप्रसंग में रागादि की अन्तरङ्गहेतुता—इस कथन में सारभूत बात यह लेनी कि निश्चय से बन्धन का अन्तरङ्ग कारण तो रागादिक भाव हैं, किसी तरह से सही । चाहे सीधी नाक पकड़ो और चाहे एक तरह का प्राणायामसा हो तो पीछे से हाथ डाल कर नाक पकड़ो, पकड़ी गई नाक ही । चाहे उसे सुगम सिद्धान्त में बतायी गई पद्धति से कहो और चाहे सूक्ष्म विश्लेषण करके कहो, फल यह निकला कि रागादिक भाव हों तो जीव को बन्धन है, रागादिक न हों तो जीव का बन्धन नहीं होता ।

गुणस्थानों में प्रत्ययविभाजन—बंध के कारण जो ये चार उपाय कहे हैं उनमें से मिथ्यात्व तो केवल पहिले गुणस्थान में है, अविरति पहिले गुणस्थान से लेकर चतुर्थगुणस्थान तक है और कषाय पहिले गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक है और योग पहिले गुणस्थान से लेकर १३वें गुणस्थान तक है । पंचमगुणस्थान में अविरतिभाव नहीं है, किन्तु संयमासंयम हं । इस कारण अविरतिभाव चतुर्थ गुणस्थान तक ही समझना है, । यों इस गुणस्थान में इन-इन प्रसंगों के कारण अपनी-अपनी योग्यतानुसार बन्धन होता रहता है । बंध पदार्थ का यहाँ व्याख्यान समाप्त हुआ, अब मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान किया जा रहा हे ।

गाथा १५०-१५१

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ।।१५०।।

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।
पावदि इंदियरहिदं अव्बाबाहं सुहमणंतं ।।१५१।।

भावमोक्षपद्धति—मोक्ष का परम उपाय है संवर, इसलिए मोक्ष की व्याख्या संवर से ही शुरू की जाती है । जब आसव के कारणभूत जीव के मोह रागद्वेष रूप हेतु नहीं रहे अथवा रागद्वेष का निमित्त पाकर निमित्त बनने योग्य उदयागत द्रव्यकर्म नहीं रहे तो ज्ञानी के रागादिक आस्रवों का निरोध हो

जाता है और जब भावास्रव नहीं रहे तो मोहनीय आदिक चारघातिया कर्मों का भी निरोध हो जाता है । जब घातिया कर्मों का अभाव हो गया तब यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वदर्शी हो जाता है, अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त करता है । जहाँ इन्द्रियों के व्यापार का सम्बन्ध नहीं है, यही है भावमोक्ष । इस ही का नाम है जीवनमुक्ति ।

भावमोक्ष का विवरण—अरहंत परमात्मा के यह भावमोक्ष प्रकट हो गया है अर्थात् भावों से छुट्टी मिल गई है । किन भावो से मुक्ति हो गई है? कर्मो के आवरण से आवृत्त इस चेतन के जो यह भाव निरन्तर बना 'रहता था ज्ञप्तिपरिवर्तन का भाव, क्रम से प्रवर्तमान ज्ञप्ति की क्रिया का जो चंक्रमणरूप भाव रहा करता था वह भाव संसारी जीव की अनादि मोहनीयकर्म के बल से अशुद्ध था और द्रव्यकर्म के आस्रवण का कारण था वह ज्ञानी जीव के समाप्त हो गया है । इस प्रसंग में भी एक नवीन चर्चा आयी हैं । जानन का प्रवर्तन होता रहना यह भाव संसारी जीव के क्लेश का कारण है । इसमें रागद्वेष मोह सब बातें आ गयीं, पर कहा यों जा रहा है आत्मा के निकट होकर, आत्मा क्या कर रहा है जिससे यह बखेड़ा बना है? यह अपनी ज्ञप्तिक्रिया का विसदृश प्रवर्तन करता जा रहा है । जैसे जिस मनुष्य को चैन नहीं है वह कभी यहाँ बैठता, देर तक नहीं बैठ सकता, उठकर दूसरी जगह बैठता, कई जगहों में उछलकूद करता रहता है । ऐसे ही जब तक इस जीव को चैन नहीं है तब तक यह अपने जाननरूप कार्य में उछल-कूद चंक्रमण करता रहता है । और यह ज्ञप्ति परिवर्तनरूप क्रिया पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान तक चलती है, कहीं टिकाव नहीं होता । ऐसा आत्मबल नहीं प्रकट हुआ कि ज्ञप्तिपरिवर्तन को रोक दे । यदि यह जीव ज्ञप्तिपरिवर्तन को रोक देगा तो इसके बाद नियम से केवलज्ञान ही प्रकट होगा । तो ऐसा जो भाव इस जीव के अनादिकाल से चला आ रहा था उस भाव से मुक्ति मिली है अब केवलज्ञान अवस्था में ।

किस भाव से छुटकारा—देखिये बात सीधी-सादी है, पर विश्लेषण सहित बात कहि जाय तो, वह एक नई बात, नई चर्चा बनती है । जैसे पहिले बताया था कि रागादिक भावों के कारण कर्मबन्ध होता है यह बात एक सुगम है, उसके विश्लेषण में एक नई बात मिली थी, ऐसे ही यह कहा कि रागद्वेष मोह भावों से छुटकारा होने का नाम भावमोक्ष है। यह बात सुगम है, पर यहाँ और भी अंत: प्रवेश करके देखो तो जीव में जो यह दुर्बलता पड़ी है कि यह सदृश ज्ञान, स्थिर सही ज्ञान नही कर पा रहा है और अपने जानन के काम में अनेक परिवर्तन बनाये हुए है, टिकाव नहीं है, ऐसी ज्ञप्ति परिवर्तनरूप जो जीव का भाव है उस भाव से अब मुक्ति मिली है, यही है जीव का भावमोक्ष ।

संसरण का निजी अन्तरङ्ग: हेतु—यह ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप भाव रागद्वेष मोह की प्रवीणता के साथ-साथ नष्ट होता है । जब यह आस्रवभाव दूर हो जाता है तो जब आस्रवभाव ही नहीं रहा तो मोह का अत्यन्त क्षय होने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्यस्वरूप के आलम्बन के प्रसाद से अब ये भावकर्म दूर हो गए हैं । जीव का भावकर्म क्या है? मोटे रूप से यह बताया है रागद्वेष मोह ये भावकर्म हैं । ये तो कुछ भिन्न और पररूप मालुम हो रहे हैं। जीव में निजी कला क्या है और उस निजी कला से सम्बंधित भावकर्म क्या है—इस पर दृष्टि डाले' तो मालूम पड़ेगा आपको भावरूप यह कर्म कि जाननरूप क्रिया में कर्म की परिणति होना यही है इसका भावकर्म । अरे अभी इसे जान रहे, सब कुछ जानने में नहीं आ रहा । अब इसका जानना छोड़ा अब इसको जानने लगे । जानना छोड़-छोड़कर नई-नई बात जानते हैं यही है जीव को भावकर्म । जैसे कोट में जेब लोग लगाते हैं, बास्कट में जेब लगाते हैं, कोई जेब बाहर की है, कोई भीतर की है और कोई जेब अत्यन्त गुप्त है । हैं वे उस बास्कट की ही जेबे । ऐसे ही जीव में ये सब भावकर्म हैं । हैं वे । रागद्वेष मोह भावकर्म हैं । ये बहिरङ्ग दृष्टि से जीव के अन्त: भावकर्म हैं और ज्ञप्तिक्रिया में परिवर्तन होना इसमें जो कुछ अन्त: श्रम हो रहा है वह है इसका अन्तरङ्ग दृष्टि से भावकर्म।

भावमोक्ष में विकास का रूप—अनादि काल से जो अनन्त चैतन्यस्वरूप आत्मवीर्य दबा हुआ था अब शुद्ध तत्व की जानकारी रूप क्रिया के द्वारा उस दुर्बलता को अन्तर्मुहूर्त में खतम होकर, एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होते ही इस ज्ञान में कथचित् कूटस्थता आ जाती हे । सूक्ष्मदृष्टि से देखो तो केवल ज्ञान के समय में भी प्रति समय का केवलज्ञान परिणमन जुदा-जुदा है, लेकिन वह जुदा क्या? जो ज्ञान पहिले जिसे जानता था, सभी ज्ञान, सभी केवलज्ञान प्रति समय ठीक वैसा का ही वैसा जानते हैं, न कुछ कम, न कुछ ज्यादा तो वहाँ परिवर्तन क्या मालूम होगा? विषय की दृष्टि से केवलज्ञान कूटस्थ है और जीव में प्रतिसमय का वह परिणमन चल रहा है इस दृष्टि से प्रतिसमय का परिणमन जुदा-जुदा है । ऐसा यह केवलज्ञान कूटस्थता को प्राप्त होना हुआ प्रकट हो रहा है । अब ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप भावकर्म नष्ट हो गए हैं । अब प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुए, इन्द्रिय व्यापारों से रहित हुए, निर्वाध अनन्त सुखमय हुए । इस प्रकार भावकर्म मोक्ष की पद्धति बताई, द्रव्यकर्म से मुक्ति का करण बताया और परमसम्वर के परमउपकार का वर्णन किया ।

गाथा १५२

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।

जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ।।१५२।।

निर्जरा का हेतु—द्रव्यकर्मों से इस जीव को जिस उपाय से मुक्ति मिलती है वह उपाय अभी निकट पूर्व में परम निर्जरा तत्त्व बताया है । उस विशुद्ध निर्जरा का कारण क्या है, उसका आख्यान इस गाथा में किया गया है । द्रव्यकर्म से मुक्ति मिले, इसके उपाय में होने वाली निर्जरा का कारण ध्यान है, जिसमें दर्शन और ज्ञान की समग्रता है, जहाँ परद्रव्यों की चिन्ता का निरोध है ऐसा यह ध्यान निर्जरा का कारण होता है । यह ध्यान किसके होता है? आत्मस्वभाव के उपयोग में रत रहने वाले साधु पुरुष के यह ध्यान होता है । इस ध्यान में परद्रव्यों का सम्बंध नहीं है । जब यह भव युक्त भगवान केवली अवस्था को प्राप्त होते हैं तब निजस्वरूप में अपने आपके सहज विश्राम के कारण अद्भुत आनन्द जगत। है । उस आनन्द के प्रताप से कर्मकलङ्कों का संधुनन हो जाता है।

आनन्द का धाम—इस लोक में अन्यत्र आनन्द का नाम भी नहीं है । मोह के वश होकर यह जीव बाह्यपदार्थों के सम्पर्क में आनन्द की कल्पनाएँ करता है । आत्मस्वभाव का स्पर्श हुए बिना जीव को निरन्तर क्षोभ ही क्षोभ रहा करता है । कोई क्षोभ हर्ष रूप में प्रकट होता है, कोई क्षोभ विषादरूप में प्रकट होता है । स्वरूप दृष्टि में ही वास्तविक आनन्द है । जहाँ पर सुख और दुःख कर्म विधान से होने वाले नाना विभावों का अभाव हो गया है, ऐसी उत्कृष्ट स्थिति में वह परम आनन्द प्रकट होता है, जिस आनन्द के बल से समस्त आवरणों को प्रक्षीण कर दिया जाता है । तब यह भगवान केवली अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अर्थात् सम्पूर्ण शुद्धज्ञान चेतनास्वरूप हो जाते हैं । अतीन्द्रिय होने के कारण अन्य द्रव्य के संयोग से रहित उनका केवल स्वरूप विश्रामरूप परिणमन रहता है।

उत्तरोत्तर विकास—सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहिले और होने के बाद से १४वें गुणस्थान पर्यन्त ज्ञानी जीवों में अपने-अपने पद में अपने-अपने योग्य ध्यान से परिणमते रहते हैं । प्रथम तो सम्यक्त्व जगने के निकट काल में ऐसा विशुद्ध ध्यान होता है जिससे कर्मों का बोझ इतना दूर हो जाता है कि पहिले के मुकाबले में अब एक दो प्रतिशत भी कर्मभार नही रहता है । अनन्त, संसार जहाँ कट जाता है, ऐसे सम्यक्त्व परिणाम में बहुत निर्जरा चलती है । उसके पश्चात् जैसे-जैसे ज्ञानी जीव की अंत: स्थिति उच्च होती जाती है इसके ध्यान का बल और बढ़ता जाता है । १०वें गुणस्थान के अन्त तक समस्त मोहनीय कर्मों का क्षय हो जाता है । अब क्षीण मोह होकर यह एकत्ववितर्कशुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादिक शेष तीन घातिया कर्मों का भी क्षय कर देता है । अब शुद्धस्वरूप में अविचलित चैतन्य वृत्ति बन गई है । ज्ञप्तिपरिवर्तन का काम अब नहीं रहा । द्वितीय शुक्लध्यान में जिस पदार्थ

को जान रहे थे उस ही पदार्थ को निरन्तर जान रहे हैं और उस ही स्थिति में सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है तो सर्वज्ञता प्रकट होने से कहीं पहिले का ज्ञान नष्ट नहीं हो गया । वह अब प्रत्यक्षरूप से ज्ञात है और शेष सभी पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाते हैं । १३वें गुणस्थान में स्वरूप से चूंकि वे चलित नहीं हो रहे, अतएव उनको ध्यान उपचार से कहते हैं । वस्तुत: वे ध्यान को फल पा चुके हैं, उनके भी पूर्व बँधे हुए कर्मों का अनुभाग खंडित देखा जाता है, इस कारण उस ध्यान को भी निर्जरा का कारण कहा गया है।

वीतरागमूर्ति—भावमुक्तकेवली जीवन्मुक्तकेवली भगवान अरहंत देव के निर्विकार परम आनन्दरूप आत्मा की उपलब्धि से जो आनन्द हुआ है उसमें ही ये तृप्त रहते हैं । हर्ष-विषाद आदिक सांसारिक विक्रियाएँ अब अरहंत प्रभु के नहीं हैं । यहाँ हम आप किसी पुरुष का कितना स्वागत कर सकते हैं, किसी पुरुष का हम कितना समारोह मना सकते हैं, जितना भी अधिक से अधिक स्वागत समारोह किया जा सकता हो उससे कई गुणा स्वागत समारोह अरहंत भगवान का यहाँ किया जाता है । समवशरण जैसी अनुपम रचना, देवेन्द्र देवादिक के द्वारा सारा प्रबंध होना, इतने बड़े समारोह के बीच रहने वाले अरहंत प्रभु वैभव से कितने पृथक् हैं, और तो बात क्या, उनके बैठने के लिए स्वर्ण कमल के ऊपर जो एक अनुपम कान्तिमान सिंहासन रखा जाता है उससे भी ४ अंगुल ऊँचे अरहंत भगवान विराजे रहते हैं, और यह इन्द्र कुबेर भक्तिवश होकर भगवान के सिर के ऊपर छत्र लगाते हैं अथवा यों कहो यह लक्ष्मी प्रभु की सेवा करने के लिए जब यह नीचे से असफल हो गयी अर्थात् सिंहासन से भी चार अंगुल ऊँचे भगवान चले गए तो यह भगवान के ऊपर से गिरती हैं छत्र के रूप में कि अब हम भगवान को छू लें, लेकिन वह छत्र भी उनसे अधर ही रहा करता है । कितनी वहाँ शोभा की जाती है ।

पुष्पवृष्टि और चमर का सन्देश—समवशरण में प्रभु अरहंत देव के निकट ऊपर से देवतागण फूलों की वर्षा करते हैं । वह पुष्प वर्षा भी एक अद्भुत सामा बाँध देती है । उनके गिराये हुए फूल भी दुनिया को उपदेश दिया करते हैं अपनी मुद्रा द्वारा । देखो जब फूल ऊपर से छोड़ा जाता है तो फूल का कोमल हिस्सा पंखुड़ियाँ, विकसित स्थान नीचे रहता है और ऊपर डंठल रहती है । डंठल का नाम बंधन है । ऊपर बंधन रहता है नीचे विकसित भाग रहता है । प्रभु के चरणों के निकट पहुंचकर फूल किस तरह गिरते हैं कि नीचे तो बन्धन हो जाता है, क्योंकि बहुत ऊपर से फूल छोड़ने पर वजनदार हिस्सा नीचे को हो जायगा, नीचे बन्धन आ जाता है, ऊपर विकसित भाग रह जाता है । यह फूल दुनिया को यह उपदेश करता है कि जो भगवान के चरणों में आयगा, उसका बन्धन तो नीचे हो

जायगा और उसका विकास ऊपर हो जायगा । ६४ यज्ञ चमर ढोलते हैं । ये भक्ति से ढोरे हुए चमर भी दुनिया को उपदेश दे रहे हैं कि जो भगवान के चरणों में नम्रीभूत होगा वह नियम से ऊपर उठ जायगा । चमर भी नीचे से ऊपर उठा करता है, जहाँ का अणु-अणु वातावरण भव्य जीवों को शिवपथ गमन के लिए प्रेरित करता है । ऐसी अद्भुत विभूति भी अरहंत भगवान के उपयोग को रंच भी व्यग्र नहीं कर सकती । ऐसी अविचलित चित्तवृत्ति अरहंत प्रभु के हुई है ।

अर्हद्ध्यान—अर्हद्भक्ति की बात इसलिए विशेषतया कही जा रही है कि सिद्ध भगवान के लिए राग का अवसर क्या? वे तो एकदम अलग पहुंच गए हैं, और ये अरहंत प्रभु हमआप सरीखे हाथ-पैर वाले हैं और हम आप लोगो के बीच में विराजमान रहते हें, विहार करते हैं । इतने निकट हैं वे तिस पर भी अत्यंत वीतराग हैं । प्रभु का स्वरूप पूर्ण वीतरागता है । जो बातचीत करे किसी से, किसी को सुखी दुःखी करे, किसी की सम्मति में गोष्ठी में आया करे वह कैसे भगवान है? भगवान तो उत्कृष्ट वीतराग हुआ करते हैं । उनका चैतन्य प्रवर्तन उत्कृष्टज्ञान और दर्शन से युक्त है, सहज शुद्ध चैतन्य में परिणत है, इन्द्रियव्यापार आदिक बहिर्द्रव्यों के आलम्बन से रहित है । स्वरूप निश्चल होने से उनकी वे क्रियाएँ अब भी चल रही हैं जो पहिले उत्कृष्ट ध्यान के बल से चला करती थीं । भावमन न होकर भी सयोगकेवली भगवान के पूर्वबद्ध कर्मों का अनुभागखण्डन स्थितिखण्डन वे सब बराबर चल रहे हैं, अतएव उनका ध्यान उपचार से कहा गया है । यह ध्यान परद्रव्यों के आलम्बन से रहित है ।

विराग विज्ञान—यहाँ एक आशंका की गयी है कि छद्मस्थ, तपस्वीजन अथवा श्रेणी में रहने वाले साधु जन वे आत्मा-आत्मा का ही ध्यान नहीं किया करते हैं, उनके ज्ञान में कुछ भी आये उस ही के ध्यान से कर्मों का विनाश होता है । परद्रव्यों का ख्याल मत करें, केवल आत्मा का ही ध्यान करें ऐसी पद्धति उसके लिए है जिसमें ऐसी प्रकृति पड़ी है कि वह राग-वश होकर परद्रव्यों का ख्याल किया करे । जिन योगी पुरुषों के यह प्रमत्त भाव नहीं रहा उनके लिए तो यह उपदेश नहीं है कि उनका भी विचार करें । रागरहित वृत्ति होने के कारण उनके तो ध्यान बराबर बना रहता है और कर्मनिर्जरा का कारण होता है । जैसे लोक में नई बहू पर ही तो प्रतिबन्ध रहता है कि तुम दूसरे के घर न जाया करो, न बैठा करो, पर बुढ़ियों के लिए तो कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता । ऐसे ही समझो कि जब तक राग विकार प्रमाद की योग्यता हे तब ही तक तो यह प्रतिबन्ध है कि तुम अन्य पदार्थो का ध्यान मत करो । एक आत्मस्वरूप का ध्यान करो, किन्तु जिसकी चैतन्य वृत्ति इतनी उज्ज्वल है कि वह रागवश न रहे उनके लिए कुछ भी ध्यान में आये, परमाणु का, आत्मा का किसी का भी ध्यान करते हुए वीतराग स्वभाव के कारण कर्मनिर्जरा कर रहे हैं । वे परद्रव्यों का ध्यान करते हुए कैसी निर्जरा कर

डालते हें, ऐसी यहाँ एक आशंका की गई है, इसका समाधान सीधा तो यह स्पष्ट है कि उनमें रागद्वेष परिणति का अनुभव नहीं रहा, रागद्वेष परिणति नहीं रही तब कुछ भी ज्ञान में आये वह ज्ञान एक विशुद्ध ज्ञान है, और रागद्वेष रहित विशुद्ध ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि वहाँ कर्म ठहर नहीं सकते ।

परमाणु के ध्यान का भाव—दूसरी बात यों सोचिये कि जहाँ यह कहा गया है कि वह परमाणु का भी ध्यान करे तो भी निर्जरा करता है । तो परमाणु का अर्थ है परम अणु, अत्यन्त सूक्ष्म चीज । वह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु क्या है? शुद्ध आत्मा का तत्त्व । यह ज्ञानी पुरुष पर अणु का भी विकल्प ध्यान हो रहा हो उसे भी इस विधि से जानता है कि इस परम आत्मअणु का स्पर्श नहीं छूटता । वहाँ भी यह पुरुष आत्मस्पर्श में रहा करता है । ऐसे इस वीतराग निर्विकल्प समाधि के ध्यान के प्रताप से कर्मनिर्जरा होती हे और उस निर्जरा के फल में मोक्ष प्राप्त होता है । यह आत्मा-आत्मा को आत्मा में आत्मा के द्वारा क्षणमात्र भी धारण करता हुआ यह स्वयंभू हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है । यह द्रव्यकर्म से मुक्ति पाने के कारणभूत निर्जरा के कारण का वर्णन किया है । अब इस अन्तिम गाथा में द्रव्यमोक्ष का स्वरूप बतला रहे हैं ।

गाथा १५३

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।१५३।।

अधातिया कर्मों के अभाव की पद्धति—जो सम्वर भाव से सहित होता हुआ, सर्वकर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय आयु नामकर्म से रहित होकर नाम और गोत्र नामक भव को त्याग देता है उसका उस कारण से मोक्ष होता है । जब चार घातिया, कर्मों का भी विनाश हो जाता है तो इसकी सम्पूर्णतया कर्मों से मुक्ति हो जाती है, सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है ।केवली भगवान के प्राय: उस समय कर्मों की ऐसों स्थिति रहती है कि आयुकर्म तो रहता है अल्प और वेदनीय नाम गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति रहती है अधिक । जब मोक्ष होगा तो चार घातिया कर्मों का एक साथ एक ही समय में क्षय होगा तब मोक्ष होगा । तो यह बात कैसे बने? यह बात समुद्घात से बनती है ।

केवलिसमुद्घात में निर्जरण की विशेषता—भगवान सयोगकेवली के अन्तिम-अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जिसमें अनेक अन्तर्मुहूर्त पड़े हुए हैं उनमें पहिले के अन्तर्मुहूर्त में इसका समुद्घात प्रकट होता है । पहिले दंडाकार प्रदेश बनता है, फिर कपाटाकार फैलता है, फिर प्रतर बन जाता है और फिर लोकभर

में प्रत्येक प्रदेश पर उसमें से एक-एक प्रदेश ठहर जाता है, फिर प्रतर कपाट दंड होकर शरीर में प्रवेश होता है । ऐसे फैलाव मैं कर्मों का फैलाव हो जाता है और वह फैलकर निर्जीर्ण हो जाता है । थोड़ा बहुत अन्तर रहता है वह समुद्घात के बाद समाप्त हो जाता । यों भगवान जब समुद्घात कर चुकते है उसके बाद सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान प्रकट होता है । सूक्ष्म काय योग के विनाश करने के लिए यह ज्ञान हुआ, परम यथाख्यात चारित्र हुआ, उसके बल से इसका योग नष्ट हो जाता है ।

अयोगकेवली गुणस्थान के अंत में सर्वकर्मविप्रमोक्ष—अयोगी गुणस्थान में उपान्त्य समय में ७२ प्रकृतियों का और अन्तिम समय में 13 प्रकृतियों का विनाश होता है । अयोगकेवली अवस्था में समुच्छिन्नक्रिय नाम का ध्यान रहता है—जिसका दूसरा नाम व्युपरतक्रियानिवृत्ति है, उसका अन्तर्मुहूर्त ही ठहराव रहता है । इसके बाद शरीर से भी विमुक्त हो जाता है, कर्मों से विमुक्त हो जाता है । आत्मा की जो एक शुद्ध केवल अवस्था है, केवल स्वरूप है वह ही कहाँ रह जाता है । यों यह भगवान शरीर से, कर्मों से रहित होते हीं ऊर्द्धगमन स्वभाव के कारण लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते हैं ।

सिद्ध भगवंत का धाम—लोग प्रभु का स्मरण करते समय सिर उठाकर स्मरण किया करते हैं । प्रभु से कुछ बोलते समय ऊपर सिर करके बोला करते हैं । यह लोगों की आदत भी इस बात को सिद्ध करती है कि भगवान का वास लोक के शिखर पर है । कोई पुरुष भगवान की याद जमीन में नीचे निगाह गड़ाकर नहीं किया करता । प्रभु सिद्ध भगवन्त लोक के शिखर पर विराजमान हैं, इस कारण लोगों की प्रकृति सिर उठाकर ऊपर करके स्मरण करने की होती है । तो ऐसा बार-बार सिद्ध लोक का स्मरण किया, इस संस्कार के कारण समझ लीजिए कि सिद्ध होने पर ऊपर ही वे जाते हैं अथवा संसार अवस्था में संग बन्धन परिग्रह के कारण सर्व लेपों के कारण यह संसार में रुलता रहा है । अब संग हट गया तो संग रहित तूमी की तरह जैसे कि तूमी मिट्टी आदिक परसंगों के लेप से? रहित होने पर पानी में ऊपर उतरा जाती है, ऐसे ही यह भगवान एकदम लोक के शिखर पर पहुंच जाते हैं । बन्धन का छेद होने से जैसे एरण्ड का बीज ऊपर, हीं जाता है यों ही कर्मबन्ध का छेद होने से यह जीव लोक शिखर पर ही पहुंच जाता है अथवा जीव का स्वभाव ही यह है । वह अकेला शुद्ध निर्लेप रहे तो वह अकेला का ही अकेला आ जाया करता है । यों प्रभु सब कर्मबन्धनों से मुक्त होकर लोक के शिखर पर विराजमान होते हैं ।

आत्मनिर्देशन—जैसा प्रभु का स्वरूप है ऐसा ही स्वरूप हम आप सबका है, इस और हम आप

साहस करे तो हम आपकी भी स्थिति ऐसी ही विशुद्ध बन सकती है । करना तो यही चाहिए । ध्यान इस ओर ही रहना चाहिए । हम इन बाह्य प्रपंचों में मोह ममता न करें, इनकी अटक अन्तर में न मानें । यह मैं, तो सबसे निराला शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, ऐसा अनुभव का बल बढ़ाये, जिसके प्रसाद से संसार के संकट सदा के लिए समाप्त हो जायें।

।। इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त ।।